गंगा-पुस्तकमाला का ९८वाँ पुष्प

प्रेम-द्वादशी

[लेखक की सर्वोत्तम १२ कहानियाँ]

लेखक

श्रीप्रेमचंद

(रंगभूमि, प्रेम-प्रसून, कर्बला, आज़ाद-कथा, प्रेम-पंचमी आदि के रचयिता)

——:*※*:——

मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार

३६, लाटूश रोड

लखनऊ

अष्टमावृत्ति

सजिल्द २)] सं० २००० वि० [सादी १)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

अन्य प्राप्ति-स्थान—
१. दिल्ली—दिल्ली-गंगा-ग्रंथागार, चर्खेवालाँ
२. प्रयाग—प्रयाग-गंगा-ग्रंथागार, गोविंद-भवन
शिवचरणलाल रोड
३. काशी—काशी-गंगा-ग्रंथागार, मच्छोदरी-पार्क
४. पटना—पटना-गंगा-ग्रंथागार, मछुआ-टोली

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

प्रेमोपहार

भूमिका

हिंदुस्थानी भाषाओं में कहानी का कोई इतिहास नहीं। प्राचीन साहित्य में दृष्टांतों और रूपकों से उपदेश का काम लिया जाता था। उस समय की वे ही गल्पें थीं। उनमें आध्यात्मिक विषयों का ही प्रतिपादन किया जाता था। महाभारत आदि ग्रंथों में ऐसे कितने ही उपाख्यान और दृष्टांत हैं, जो कुछ-कुछ वर्तमान समय की गल्पों से मिलते हैं। सिंहासनबत्तीसी, बैतालपचीसी, कथा-सरित्सागर और इसी श्रेणी की अन्य कितनी ही पुस्तकें ऐसे ही दृष्टांतों का संग्रह-मात्र हैं, जिन्हें किसी एक सूत्र में पिरोकर मालाएँ तैयार कर दी गई हैं। योरप का प्राचीन साहित्य भी short story से यही काम लेता था। आजकल जिस वस्तु को हम short story कहते हैं, वह उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का आविष्कार है। भारतवर्ष में तो उसका प्रचार उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दिनों में ही हुआ है। उपन्यासों की भाँति आख्यायिकाओं का विकास भी पहले-पहल बँगला-साहित्य में हुआ, और वंकिमचंद्र तथा रवींद्रनाथ ने कई उच्च कोटि की गल्पें लिखीं। बीसवीं शताब्दी के आरंभ से हिंदी-भाषा में कहानियाँ लिखी जाने लगीं, और तब से इसका प्रचार दिन-दिन बढ़ता जाता है।

प्राचीन गल्पमालाओं का उद्देश मुख्य करके कोई उपदेश करना होता था। कितनी ही मालाएँ तो केवल स्त्रियों के चरित्र-दोष दिखाने के लिये ही लिखी गई हैं। मुस्लिम-साहित्य में अलिफ़लैला गल्पों का एक बहुत ही अनूठा संग्रह है। मगर उसका उद्देश उपदेश नहीं, बल्कि मनोरंजन है। इस दूसरी श्रेणी की गल्पें

भारतीय साहित्य में नहीं हैं। वर्तमान आख्यायिका का मुख्य उद्देश साहित्यिक रसास्वादन कराना है, और जो कहानी इस उद्देश से जितनी दूर जा गिरती है, उतनी ही दूषित समझी जाती है।

लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि वर्तमान गल्प-लेखक कोरी गल्पें लिखता है, जैसी बोस्ताने-ख़याल या तिलस्मे-होशरुबा हैं। नहीं, उसका उद्देश चाहे उपदेश करना न हो, पर गल्पों का आधार कोई-न-कोई दार्शनिक तत्त्व या सामाजिक विवेचना अवश्य होता है। ऐसी कहानी, जिसमें जीवन के किसी अंग पर प्रकाश न पड़ता हो, जो सामाजिक रूढ़ियों की तीव्र आलोचना न करती हो, जो मनुष्य में सद्भावों को दृढ़ न करे, या जो मनुष्य में कुतूहल का भाव न जाग्रत् करे, कहानी नहीं।

योरप और भारतवर्ष की आत्मा में बहुत अंतर है। योरप की दृष्टि सुंदर पर पड़ती है, पर भारत की सत्य पर। संपन्न योरप मनोरंजन के लिये गल्प लिखे, लेकिन भारतवर्ष कभी इस आदर्श को स्वीकार नहीं कर सकता। नीति और धर्म हमारे जीवन के प्राण हैं। हम पराधीन हैं, लेकिन हमारी सभ्यता पाश्चात्य सभ्यता से कहीं ऊँची है। यथार्थ पर निगाह रखनेवाला योरप हम आदर्शवादियों से जीवन-संग्राम में बाज़ी क्यों न ले जाय, पर हम अपने परंपरागत संस्कारों का आधार नहीं त्याग सकते। साहित्य में भी हमें अपनी आत्मा की रक्षा करनी ही होगी। हमने उपन्यास और गल्प का कलेवर योरप से लिया है, लेकिन हमें इसका प्रयत्न करना होगा कि उस कलेवर में भारतीय आत्मा सुरक्षित रहे।

इस संग्रह में जो कहानियाँ दी जा रही हैं, उनमें इसी आदर्श का पालन करने की चेष्टा की गई है। मेरी कुल कहानियों की संख्या १०० से अधिक हो गई है, और आजकल किसी को इतनी फ़ुरसत कहाँ कि वे सब कहानियाँ पढ़े। मेरे कई मित्रों ने मुझसे

अपनी कहानियों का ऐसा संग्रह करने के लिये आग्रह किया, जिसमे मेरी सभी तरह की कहानियों के नमूने आ जायँ। यह संग्रह उसी आग्रह का फल है। इसमें कुछ कहानियाँ ऐसी हैं, जो अन्य संग्रहों से ली गई हैं। उनके प्रकाशकों को धन्यवाद देना मेरा कर्तव्य है। कुछ कहानियाँ ऐसी हैं, जो अभी तक किसी माला में नहीं निकलीं। इन कहानियों की आलोचना करना मेरा काम नहीं। हाँ, इतना मैं कह सकता हूँ कि मैंने नवीन कलेवर में भारतीय आत्मा को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है।

गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ, १९२४ } प्रेमचंद

सूची

	पृष्ठ
१. शांति	११
२. बैंक का दिवाला	३१
३. आत्माराम	६०
४. दुर्गा का मंदिर	६९
५. बड़े घर की बेटी	८३
६. सत्याग्रह	९५
७. गृह-दाह	११३
८. डिक्री के रुपए	१३६
९. मुक्ति-मार्ग	१५५
१०. शतरंज के खिलाड़ी	१६९
११. पंच परमेश्वर	१८३
१२. शंखनाद	१९८

प्रेम-द्वादशी

शांति

(१)

जब मैं ससुराल आई; तो बिलकुल फूहड़ थी। न पहनने-ओढ़ने का सलीक़ा, न बातचीत करने का ढंग। सिर उठाकर किसी से बातचीत न कर सकती थी। आँखें अपने आप झपक जाती थीं। किसी के सामने जाते शर्म आती, स्त्रियों तक के सामने विना घूँघट के झिझक होती थी। मैं कुछ हिंदी पढ़ी हुई थी, पर उपन्यास-नाटक आदि पढ़ने में आनंद न आता था। फ़ुरसत मिलने पर रामायण पढ़ती। उसमें मेरा मन बहुत लगता था। मैं उसे मनुष्य-कृत नहीं समझती थी। मुझे पूरा-पूरा विश्वास था कि उसे किसी देवता ने स्वयं रचा होगा। मैं मनुष्यों को इतना बुद्धिमान् और सहृदय नहीं समझती थी। मैं दिन-भर घर का कोई-न-कोई काम करती रहती। और कोई काम न रहता, तो चर्खे पर सूत कातती। अपनी बूढ़ी सास से थर-थर काँपती थी। एक दिन दाल में नमक अधिक हो गया। ससुरजी ने भोजन के समय सिर्फ़ इतना ही कहा—"नमक ज़रा अंदाज़ से डाला करो।" इतना सुनते ही हृदय काँपने लगा। मानो मुझे इससे अधिक कोई वेदना नहीं पहुँचाई जा सकती थी।

लेकिन मेरा यह फूहड़पन मेरे बाबूजी (पतिदेव) को पसंद न आता था। वह वकील थे। उन्होंने शिक्षा की ऊँची-से-ऊँची डिगरियाँ पाई थीं। वह मुझ पर प्रेम अवश्य करते थे, पर उस प्रेम में दया की मात्रा

अधिक होती थी। स्त्रियों के रहन-सहन और शिक्षा के संबंध में उनके विचार बहुत ही उदार थे। वह मुझे उन विचारों से बहुत नीचे देखकर कदाचित् मन-ही-मन खिन्न होते थे; परंतु उसमें मेरा कोई अपराध न देखकर हमारे रस्म-रिवाज पर झुँझलाते थे, उन्हें मेरे साथ बैठकर बातचीत करने में ज़रा भी आनंद न आता। सोने आते, तो कोई-न-कोई अँगरेज़ी-पुस्तक साथ लाते, और नींद न आने तक पढ़ा करते। जो कभी मैं पूछ बैठती कि क्या पढ़ते हो, तो मेरी ओर करुण दृष्टि से देखकर उत्तर देते—"तुम्हें क्या बतलाऊँ, यह आसकर वाइल्ड की सर्वश्रेष्ठ रचना है।" मैं अपनी अयोग्यता पर बहुत लज्जित थी। अपने को धिक्कारती, मैं ऐसे विद्वान् पुरुष के योग्य नहीं हूँ। मुझे तो किसी उजड्ड के घर पड़ना था। बाबूजी मुझे निरादर की दृष्टि से नहीं देखते थे, यही मेरे लिये सौभाग्य की बात थी।

एक दिन संध्या-समय मैं रामायण पढ़ रही थी। भरतजी रामचंद्रजी की खोज में निकले थे। उनका करुण विलाप पढ़कर मेरा हृदय गद्गद हो रहा था। नेत्रों से अश्रु-धारा बह रही थी। हृदय उमड़ा आता था। सहसा बाबूजी कमरे में आए। मैंने पुस्तक तुरंत बंद कर दी। उनके सामने मैं अपने फूहड़पन को भरसक प्रकट न होने देती थी, लेकिन उन्होंने पुस्तक देख ली, और पूछा—"रामायण है न?"

मैंने अपराधियों की भाँति सिर झुकाकर कहा—"हाँ, ज़रा देख रही थी।"

बाबूजी—"इसमें शक नहीं कि पुस्तक बहुत ही अच्छी, भावों से भरी हुई है; लेकिन इसमें मानव-चरित्र को वैसी ख़ूबी से नहीं दिखाया गया, जैसा अँगरेज़ या फ़्रांसीसी लेखक दिखलाते हैं। तुम्हारी समझ में तो न आवेगा, लेकिन कहने में क्या हर्ज है, योरप आजकल 'स्वाभाविकता' (Realism) का ज़माना है। वे लोग मनोभावों के उत्थान और पतन का ऐसा वास्तविक वर्णन करते हैं कि पढ़कर आश्चर्य होता है। हमारे

यहाँ कवियों को पग-पग पर धर्म तथा नीति का ध्यान रखना पड़ता है, इसलिये कभी-कभी उनके भावों में अस्वाभाविकता आ जाती है; और यही त्रुटि तुलसीदास में भी है।"

मेरी समझ में उस समय कुछ भी न आया। बोली—"मेरे लिये तो यही बहुत है, अँगरेज़ी-पुस्तकें कैसे समझूँ?"

बाबूजी—"कोई कठिन बात नहीं। एक घंटे भी रोज़ पढ़ो, तो थोड़े ही समय में काफ़ी योग्यता प्राप्त कर सकती हो। पर तुमने तो मानो मेरी बातें न मानने की सौगंद ही खा ली है। कितना समझाया कि मुझसे शर्म करने की आवश्यकता नहीं, पर तुम्हारे ऊपर कुछ असर न पड़ा। कितना कहता हूँ कि ज़रा सफ़ाई से रहा करो; परमात्मा सुंदरता देता है, तो चाहता है कि उसका शृंगार भी होता रहे; लेकिन जान पड़ता है, तुम्हारी दृष्टि में उसका कुछ भी मूल्य नहीं। या शायद तुम समझती हो कि मेरे-जैसे कुरूप मनुष्य के लिये तुम चाहे जैसे भी रहो, आवश्यकता से अधिक अच्छी हो। यह अत्याचार मेरे ऊपर है। तुम मुझे ठोंक-पीटकर वैराग्य सिखाना चाहती हो। जब मैं दिन-रात मेहनत करके कमाता हूँ, तो स्वभावतः मेरी यह इच्छा होती है कि उस द्रव्य का सबसे उत्तम व्यय हो; परंतु तुम्हारा फूहड़पन और पुराने विचार मेरे सारे परिश्रम पर पानी फेर देते हैं। (स्त्रियाँ केवल भोजन बनाने, बच्चे पालने, पति की सेवा करने और एकादशी का व्रत रखने के लिये नहीं हैं। उनके जीवन का लक्ष्य इससे बहुत ऊँचा है। वे मनुष्यों के समस्त सामाजिक और मानसिक विषयों में समान रूप से भाग लेने की अधिकारिणी हैं। उन्हें मनुष्यों की भाँति स्वतंत्र रहने का भी अधिकार प्राप्त है। मुझे तुम्हारी यह बंदी-दशा देखकर बड़ा कष्ट होता है। स्त्री पुरुष की अर्द्धांगिनी मानी गई है।) लेकिन तुम मेरी मानसिक या सामाजिक, किसी आवश्यकता को पूरा नहीं कर सकतीं। मेरा और तुम्हारा धर्म अलग, आचार-विचार अलग, आमोद-प्रमोद के विषय

अलग। जीवन के किसी कार्य में मुझे तुमसे किसी प्रकार की सहायता नहीं मिल सकती। तुम स्वयं विचार सकती हो कि ऐसी दशा में मेरी ज़िंदगी कैसी बुरी तरह कट रही है।"

बाबूजी का कहना बिलकुल यथार्थ था। मैं उनके गले में एक ज़ंजीर की भाँति पड़ी हुई थी। उस दिन से मैंने उन्हीं के कहे अनुसार चलने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली; अपने देवता को किस भाँति अप्रसन्न करती?

(२)

यह तो कैसे कहूँ कि मुझे पहनने-ओढ़ने से प्रेम न था। था, और उतना ही था, जितना दूसरी स्त्रियों को होता है। जब बालक और वृद्ध तक शृंगार पसंद करते हैं, तो मैं तो युवती ठहरी। मन भीतर-ही-भीतर मचलकर रह जाता था। मेरे मायके में मोटा खाने और मोटा पहनने की चाल थी। मेरी मा और दादी हाथों से सूत कातती थीं, और जुलाहे से उसी सूत के कपड़े बुनवा लिए जाते थे। बाहर से बहुत कम कपड़े आते थे। मैं कभी ज़रा महीन कपड़ा पहनना चाहती या शृंगार की ओर रुचि दिखाती, तो अम्मा फ़ौरन् टोकतीं, और समझातीं कि बहुत बनाव-सँवार भले घर की लड़कियों को शोभा नहीं देता। ऐसी आदत अच्छी नहीं। यदि कभी वह मुझे दर्पण के सामने देख लेतीं, तो झिड़कने लगतीं। परंतु अब बाबूजी की ज़िद से मेरी झिझक जाती रही। मेरी सास और ननदें मेरे बनाव-शृंगार पर नाक-भौं सिकोड़तीं; पर मुझे अब उनकी परवा न थी। बाबूजी की प्रेम-परिपूर्ण दृष्टि के लिये मैं झिड़कियाँ भी सह सकती थी। अब उनके और मेरे विचारों में समानता आती जाती थी। वह अधिक प्रसन्न-चित्त जान पड़ते थे। वह मेरे लिये फ़ैशनेबुल साड़ियाँ, सुंदर जाकटें, चमकते हुए जूते और कामदार स्लीपरें लाया करते; पर मैं इन वस्तुओं को धारण कर किसी के सामने न निकलती, ये वस्त्र केवल बाबूजी के ही सामने पहनने के लिये रक्खे थे। मुझे इस प्रकार बनी-ठनी

देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती थी। स्त्री अपने पति की प्रसन्नता के लिये क्या नहीं कर सकती? अब घर के कामकाज में मेरा जी न लगता था। मेरा अधिक समय बनाव-शृंगार तथा पुस्तकावलोकन में ही बीतने लगा। पुस्तकों से मुझे प्रेम होने लगा था।

यद्यपि अभी तक मैं अपने सास-ससुर का लिहाज़ करती थी, उनके सामने बूट और गाउन पहनकर निकलने का मुझे साहस न होता था, पर मुझे उनकी शिक्षा-पूर्ण बातें न भाती थीं। मैं सोचती, जब मेरा पति सैकड़ों रुपए महीना कमाता है, तो घर में मैं चेरी बनकर क्यों रहूँ? यों अपनी इच्छा से चाहे जितना काम करूँ; पर ये लोग मुझे आज्ञा देनेवाले कौन होते हैं? मुझमें आत्माभिमान की मात्रा बढ़ने लगी। यदि अम्मा मुझे कोई काम करने को कहतीं, तो मैं अदबदाकर उसे टाल जाती। एक दिन उन्होंने कहा—"सबेरे के जल-पान के लिये कुछ दाल-मोठ बना लो।" मैं बात अनसुनी कर गई। अम्मा ने कुछ देर तक मेरी राह देखी; पर जब मैं अपने कमरे से न निकली, तो उन्हें गुस्सा हो आया। वह बड़ी ही चिड़चिड़ी प्रकृति की थीं। तनिक-सी बात पर तुनक जाती थीं। उन्हें अपनी प्रतिष्ठा का इतना अभिमान था कि मुझे बिलकुल लौंडी ही समझती थीं। हाँ, अपनी पुत्रियों से सदैव नम्रता से पेश आतीं। बल्कि मैं तो यह कहूँगी कि उन्हें सिर चढ़ा रक्खा था। वह क्रोध में भरी हुई मेरे कमरे के द्वार पर आकर बोलीं—"तुमसे मैंने दाल-मोठ बनाने को कहा था, बनाया?"

मैं कुछ रुष्ट होकर बोली—"अभी फ़ुरसत नहीं मिली।"

अम्मा—"तो तुम्हारी जान में दिन-भर पड़े रहना ही बड़ा काम है? यह आजकल तुम्हें हो क्या गया है? किस घमंड में हो? क्या यह सोचती हो कि मेरा पति कमाता है, तो मैं काम क्यों करूँ? इस घमंड में न भूलना! तुम्हारा पति लाख कमाए, लेकिन घर में राज मेरा ही रहेगा। आज वह चार पैसे कमाने लगा है, तो तुम्हें मालकिन बनने की

हवस हो रही है। लेकिन उसे पालने-पोसने तुम नहीं आई थीं, मैंने ही उसे पढ़ा-लिखाकर इस योग्य बनाया है। वाह ! कल की छोकरी और अभी से यह गुमान !"

मैं रोने लगी। मुँह से एक बात न निकली। बाबूजी उस समय ऊपर कमरे में बैठे कुछ पढ़ रहे थे। ये सब बातें उन्होंने सुनीं। उन्हें बड़ा कष्ट हुआ। रात को जब वह घर में आए, तो बोले—"देखा तुमने आज अम्मा का क्रोध ! यही अत्याचार है, जिससे स्त्रियों को अपनी ज़िंदगी पहाड़ मालूम होने लगती है। इन बातों से हृदय में कितनी वेदना होती है, इसका जानना असंभव है। जीवन भारू हो जाता है, हृदय जर्जर हो जाता है, और मनुष्य की आत्मोन्नति उसी प्रकार रुक जाती है, जैसे जल, प्रकाश और वायु के विना पौदे सूख जाते हैं। हमारे घरों में यह बड़ा अंधेर है। अब मैं तो उनका पुत्र ही ठहरा, उनके सामने मुँह नहीं खोल सकता। मेरे ऊपर उनका बहुत बड़ा अधिकार है। अतएव उनके विरुद्ध एक शब्द भी कहना मेरे लिये लज्जा की बात होगी, और यही बंधन तुम्हारे लिये भी है। यदि तुमने उनकी बातें चुपचाप न सुन ली होतीं, तो मुझे बहुत ही दुःख होता। कदाचित् मैं विष खा लेता। ऐसी दशा में दो ही बातें संभव हैं; या तो सदैव उनकी घुड़कियों-झिड़कियों को सहे जाओ, या अपने लिये कोई दूसरा रास्ता ढूँढ़ो। अब इस बात की आशा करना कि अम्मा के स्वभाव में कोई परिवर्तन होगा, बिलकुल भ्रम है। बोलो, तुम्हें क्या स्वीकार है ?"

मैंने डरते-डरते कहा—"आपकी जो आज्ञा हो, वह करूँ। अब कभी न पढ़ूँ-लिखूँगी, और जो कुछ वह कहेंगी, वही करूँगी। यदि वह इसी में प्रसन्न हैं, तो यही सही—मुझे पढ़-लिखकर क्या करना है ?"

बाबूजी—"पर मैं यह नहीं चाहता। अम्मा ने आज आरंभ किया है। अब रोज़ बढ़ती ही जायँगी। मैं तुम्हें जितना ही सभ्य तथा विचार-शील बनाने की चेष्टा करूँगा, उतना ही उन्हें बुरा लगेगा, और उनका

गुस्सा तुम्हीं पर उतरेगा। उन्हें पता नहीं कि जिस आब-हवा में उन्होंने अपनी ज़िंदगी बिताई है, वह अब नहीं रही। विचार-स्वातंत्र्य और समयानुकूलता उनकी दृष्टि में अधम से कम नहीं। मैंने यह उपाय सोचा है कि किसी दूसरे शहर में चलकर अपना अड्डा जमाऊँ। मेरी वकालत भी यहाँ नहीं चलती। इसीलिये किसी बहाने की भी आवश्यकता न पड़ेगी।"

मैं इस तजवीज़ के विरुद्ध कुछ न बोली। यद्यपि मुझे अकेले रहने से भय लगता था, तथापि वहाँ स्वतंत्र रहने की आशा ने मन को प्रफुल्लित कर दिया।

(३)

उसी दिन से अम्मा ने मुझसे बोलना छोड़ दिया। महरियों, पड़ोसियों और ननदों के आगे मेरा परिहास किया करतीं। यह मुझे बहुत बुरा मालूम होता था। इसके बदले यदि वह कुछ भली-बुरी बातें कह लेतीं, तो मुझे स्वीकार था। मेरे हृदय से उनकी मान-मर्यादा घटने लगी। किसी मनुष्य पर इस प्रकार कटाक्ष करना उसके हृदय से अपने आदर को मिटाने के समान है। मेरे ऊपर सबसे गुरुतर दोषारोपण यह था कि मैंने बाबूजी पर कोई मोहन-मंत्र फूक दिया है, वह मेरे इशारों पर चलते हैं। पर यथार्थ में बात उलटी ही थी।

भाद्र-मास था। जन्माष्टमी का त्योहार आया। घर में सब लोगों ने व्रत रक्खा। मैंने भी सदैव की भाँति व्रत रक्खा। ठाकुरजी का जन्म रात को बारह बजे होनेवाला था, हम सब बैठी गाती-बजाती थीं। बाबूजी इन असभ्य व्यवहारों के बिलकुल विरुद्ध थे। वह होली के दिन रंग भी न खेलते, गाने-बजाने की तो बात ही अलग। रात को एक बजे जब मैं उनके कमरे में गई, तो मुझे समझाने लगे—"इस प्रकार शरीर को कष्ट देने से क्या लाभ? कृष्ण महापुरुष अवश्य थे, और उनकी पूजा करना हमारा कर्तव्य है। पर इस गाने-बजाने से क्या फ़ायदा? इस ढोंग

का नाम धर्म नहीं है। धर्म का संबंध सचाई और ईमान से है, दिखावे से नहीं।"

बाबूजी स्वयं इस मार्ग का अनुसरण करते थे। वह भगवद्गीता की अत्यंत प्रशंसा करते, पर उसका पाठ कभी न करते थे। उपनिषदों की प्रशंसा में उनके मुख से मानो पुष्प-वृष्टि होने लगती थी; पर मैंने उन्हें कभी कोई उपनिषद् पढ़ते नहीं देखा। वह हिंदू-धर्म के गूढ़ तत्त्व-ज्ञान पर लट्टू थे, पर इसे समयानुकूल नहीं समझते थे। विशेषकर वेदांत को तो वह भारत की अवनति का मूल-कारण समझते थे। वह कहा करते कि इसी वेदांत ने हमें चौपट कर दिया, हम दुनिया के पदार्थों को तुच्छ समझने लगे, जिसका फल अब तक भुगत रहे हैं। अब उन्नति का समय है। चुपचाप बैठे रहने से निर्वाह नहीं। संतोष ने ही भारत को गारत कर दिया।

उस समय उनको उत्तर देने की शक्ति मुझमें कहाँ थी? हाँ, अब ज्ञान पड़ता है कि वह योरप की सभ्यता के चक्कर में पड़े हुए थे। अब वह स्वयं ऐसी बातें नहीं करते, वह जोश अब ठंडा हो चला है।

(४)

इसके कुछ दिन बाद हम इलाहाबाद चले आए। बाबूजी ने पहले ही एक दोमंज़िला मकान ले रक्खा था—सब तरह से सजा-सजाया। हमारे यहाँ पाँच नौकर थे—दो स्त्रियाँ, दो पुरुष और एक महराज। अब मैं घर के कुल काम-काज से छुट्टी पा गई। कभी जी घबराता, तो कोई उपन्यास लेकर पढ़ने लगती।

यहाँ फूल और पीतल के बर्तन बहुत कम थे। चीनी की रकाबियाँ और प्याले अलमारियों में सजे रक्खे थे। भोजन मेज़ पर आता था। बाबूजी बड़े चाव से भोजन करते। मुझे पहले कुछ शर्म आती थी, लेकिन धीरे-धीरे मैं भी मेज़ पर भोजन करने लगी। हमारे पास एक सुंदर टम-टम थी। अब हम पैदल बिलकुल न चलते। किसी से मिलने दस पग

भी जाना होता, तो गाड़ी तैयार कराई जाती। बाबूजी कहते—"यही फ़ैशन है।"

बाबूजी की आमदनी अभी बहुत कम थी। भली भाँति खर्च भी न चलता था। कभी-कभी मैं उन्हें चिंताकुल देखती, तो समझाती कि जब आय इतनी कम है, तो व्यय इतना क्यों बढ़ा रक्खा है? कोई छोटा-सा मकान ले लो। दो नौकरों से भी काम चल सकता है। लेकिन बाबूजी मेरी बातों पर हँस देते, और कहते—"मैं अपनी दरिद्रता का ढिंढोरा अपने आप क्यों पीटूँ? दरिद्रता प्रकट करना दरिद्र होने से अधिक दुःखदायी होता है। भूल जाओ कि हम लोग निर्धन हैं, फिर लक्ष्मी हमारे पास आप दौड़ी आवेगी। खर्च बढ़ना, आवश्यकताओं का अधिक होना ही द्रव्योपार्जन की पहली सीढ़ी है। इससे हमारी गुप्त शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं, और हम उन कष्टों को झेलते हुए आगे पग धरने के योग्य होते हैं। संतोष दरिद्रता का दूसरा नाम है।"

अस्तु। हम लोगों का खर्च दिन-दिन बढ़ता ही जाता था। हम लोग सप्ताह में तीन बार थिएटर ज़रूर देखने जाते। सप्ताह में एक बार मित्रों को भोज अवश्य दिया जाता। अब मुझे सूझने लगा कि जीवन का लक्ष्य सुख-भोग ही है। ईश्वर को हमारी उपासना की इच्छा नहीं। उसने हमें उत्तम-उत्तम वस्तुएँ भोजन के लिये ही दी हैं। उन्हें भोगना ही उसकी सर्वोत्तम आराधना है। एक ईसाई लेडी मुझे पढ़ाने तथा गाना सिखाने आने लगी। घर में एक पियानो भी आ गया। इन्हीं आनंदों में फँसकर मैं रामायण और भक्तमाल को भूल गई। वे पुस्तकें मुझे अप्रिय मालूम होने लगीं। देवतों पर से विश्वास उठ गया।

धीरे-धीरे यहाँ के बड़े लोगों से स्नेह और संबंध बढ़ने लगा। यह एक बिलकुल नई सोसाइटी थी। इसका रहन-सहन, आहार-व्यवहार और आचार-विचार मेरे लिये सर्वथा अनोखे थे। मैं इस सोसाइटी में ऐसी जान पड़ती, जैसे भौरों में कौआ। इन लेडियों की बातचीत कभी थिएटर

और घुड़दौड़ के विषय में होतीं, कभी टेनिस, समाचार-पत्रों और अच्छे-अच्छे लेखकों के लेखों पर। उनके चातुर्य, बुद्धि की तीव्रता, फुर्ती और चपलता पर मुझे अचंभा होता। ऐसा मालूम होता कि वे ज्ञान और प्रकाश की पुतलियाँ हैं। वे बिना घूंघट बाहर निकलतीं। मैं उनके साहस पर चकित रह जाती। वे मुझे भी कभी-कभी अपने साथ ले जाने की चेष्टा करतीं; लेकिन मैं लज्जा-वश न जा सकती। मैं उन लेडियों को कभी उदास या चिंतित न पाती। मिस्टर दास बहुत बीमार थे, परंतु मिसेज़ दास के माथे पर चिंता का चिह्न तक न था। मिस्टर बागड़ी नैनीताल में तपेदिक का इलाज करा रहे थे, पर मिसेज़ बागड़ी नित्य टेनिस खेलने जाती थीं। इस अवस्था में मेरी क्या दशा होती, यह मैं ही जानती हूँ।

इन लेडियों की रीति-नीति में एक आकर्षण-शक्ति थी, जो मुझे खींचे लिए जाती थी। मैं उन्हें सदैव आमोद-प्रमोद के लिये उत्सुक देखती, और मेरा भी जी चाहता कि उन्हीं की भाँति मैं निस्संकोच हो जाती। उनका अँगरेज़ी वार्तालाप सुनकर मुझे मालूम होता कि वे देवियाँ हैं। मैं अपनी इन त्रुटियों की पूर्ति के लिये प्रयत्न किया करती थी। इसी बीच में मुझे एक खेदजनक अनुभव होने लगा। यद्यपि बाबूजी पहले से मेरा अधिक आदर करते, मुझे सदैव 'डियर', 'डार्लिंग' आदि कहकर पुकारते थे, तथापि मुझे उनकी बातों में एक प्रकार की बनावट मालूम होती थी। ऐसा प्रतीत होता, मानो ये बातें उनके हृदय से नहीं, केवल मुख से निकलती हैं। उनके स्नेह और प्यार में हार्दिक भावों की जगह अलंकार ज़्यादा होता था। किंतु और भी अचंभे की बात तो यह थी कि अब मुझे भी बाबूजी पर वह पहले की-सी श्रद्धा न रही थी। अब उनकी सिर की पीड़ा से मेरे हृदय में पीड़ा न होती थी। मुझमें आत्मगौरव का आविर्भाव होने लगा था। अब मैं अपना बनाव-शृंगार इसलिये करती थी कि संसार में यह भी मेरा एक कर्तव्य है, इसलिये नहीं कि मैं किसी एक पुरुष की व्रतधारिणी हूँ। अब मुझे भी अपनी सुंदरता पर गर्व होने लगा

था। मैं अब किसी दूसरे के लिये नहीं, अपने लिये जीती थी। त्याग तथा सेवा का भाव मेरे हृदय से लुप्त होने लगा था।

मैं अब भी परदा करती थी; परंतु हृदय अपनी सुंदरता की सराहना सुनने के लिये व्याकुल रहता था। एक दिन मिस्टर दास तथा और भी अनेक सभ्यगण बाबूजी के साथ बैठे हुए थे। मेरे और उनके बीच में केवल एक परदे की आड़ थी। बाबूजी मेरी इस झिझक से बहुत ही लज्जित थे। इसे वह अपनी सभ्यता में काला धब्बा समझते थे। कदाचित् वह दिखाना चाहते थे कि मेरी स्त्री इसलिये परदे में नहीं है कि वह रूप तथा वस्त्राभूषणों में किसी से कम है, बल्कि इसलिये कि अभी उसे लज्जा आती है। वह मुझे किसी बहाने से वारंवार परदे के निकट बुलाते, जिसमें उनके मित्र मेरी सुंदरता और मेरे वस्त्राभूषण देख लें। अंत में, कुछ दिन बाद, मेरी झिझक ग़ायब हो गई। इलाहाबाद आने के पूरे दो वर्ष बाद मैं बाबूजी के साथ बिना परदे के सैर करने लगी। सैर के बाद टेनिस की नौबत आई। अंत को मैंने क्लब में जाकर दम लिया। पहले यह टेनिस और क्लब मुझे तमाशा-सा मालूम होता था, मानो वे लोग व्यायाम के लिये नहीं, बल्कि फ़ैशन के लिये टेनिस खेलने आते थे। वे कभी न भूलते थे कि हम टेनिस खेल रहे हैं। उनके प्रत्येक काम में, झुकने में, दौड़ने में, उचकने में एक कृत्रिमता होती थी, जिससे यह प्रतीत होता था कि इस खेल का प्रयोजन कसरत नहीं, केवल दिखावा है।

क्लब में इससे भी विचित्र अवस्था थी। वह पूरा स्वाँग था, भद्दा और बेजोड़। लोग अँगरेज़ी के कुछ चुने हुए शब्दों का प्रयोग करते थे, जिनमें कोई सार न होता था; नक़ली हँसी हँसते थे, जिसका कोई अवसर न होता था। स्त्रियों की वह फूहड़ निर्लज्जता और पुरुषों की वह भाव-शून्य स्त्री-पूजा मुझे तनिक भी न भाती थी। चारो ओर अँगरेज़ी चाल-ढाल की एक हास्यजनक नक़ल थी। परंतु क्रमशः मैं भी वही रंग पकड़ने और उन्हीं का अनुकरण करने लगी। अब मुझे अनुभव हुआ कि इस प्रदर्शन-

लोलुपता में कितनी शक्ति है। मैं अब नित्य नए शृंगार करती, नित्य नया रूप भरती, केवल इसलिये कि क्लब में सबकी आँखों में चुभ जाऊँ। अब मुझे बाबूजी की सेवा-सत्कार से अधिक अपने बनाव-शृंगार की धुन रहती थी। यहाँ तक कि यह शौक़ एक नशा-सा बन गया। इतना ही नहीं, लोगों से अपने सौंदर्य की प्रशंसा सुनकर मुझे एक अभिमान-मिश्रित आनंद का अनुभव होने लगा। मेरी लज्जाशीलता की सीमाएँ विस्तृत हो गईं। वह दृष्टिपात, जो कभी मेरे शरीर के प्रत्येक रोएँ को खड़ा कर देता, और वह हास्य-कटाक्ष, जो कभी मुझे विष खा लेने को प्रस्तुत कर देता, उनसे अब मुझे एक उन्माद-पूर्ण हर्ष होता था। परंतु जब कभी मैं अपनी अवस्था पर आंतरिक दृष्टि डालती, तो मुझे बड़ी घबराहट होती थी। यह नाव किस घाट लगेगी? कभी-कभी इरादा करती कि क्लब न जाऊँगी; परंतु समय आते ही फिर तैयार हो जाती। मैं अपने वश में न थी। मेरी सत्कल्पनाएँ निर्बल हो गई थीं।

(५)

दो वर्ष और बीत गए, और अब बाबूजी के स्वभाव में एक विचित्र परिवर्तन होने लगा। वह उदास और चिंतित रहने लगे। मुझसे बहुत कम बोलते। ऐसा जान पड़ता, इन्हें कठिन चिंता ने घेर रक्खा है, या कोई बीमारी हो गई है। मुँह बिलकुल सूखा रहता था। तनिक-तनिक-सी बात पर नौकरों से झल्लाने लगते, और बाहर बहुत कम जाते।

अभी एक ही मास पहले वह सौ काम छोड़कर क्लब अवश्य जाते थे, वहाँ गए बिना उन्हें कल न पड़ती थी। पर अब अधिकतर अपने कमरे में आराम-कुरसी पर लेटे हुए समाचार-पत्र और पुस्तकें देखा करते थे। मेरी समझ में न आता कि बात क्या है?

एक दिन उन्हें बड़े ज़ोर का बुख़ार आया, दिन-भर बेहोश पड़े रहे। परंतु मुझे उनके पास बैठने में अनकुस-सा लगता था। मेरा जी एक उपन्यास में लगा हुआ था। उनके पास जाती, और पल-भर में फिर

लौट आती थी। टेनिस का समय आया, तो मैं दुविधा में पड़ गई, जाऊँ, या न जाऊँ। देर तक मन में यह संग्राम होता रहा। अंत को मैंने यही निर्णय किया कि मेरे यहाँ रहने से यह कुछ अच्छे तो हो नहीं जायँगे, इससे मेरा यहाँ बैठा रहना बिलकुल निरर्थक है। मैंने बढ़िया वस्त्र पहने और रैकेट लेकर क्लब-घर जा पहुँची। वहाँ मैंने मिसेज़ दास और मिसेज़ बागड़ी से बाबूजी की दशा बतलाई, और सजल-नेत्र चुपचाप बैठी रही। जब सब लोग कोर्ट में जाने लगे, और मिस्टर दास ने मुझसे चलने को कहा, तो मैं एक ठंडी आह भरकर कोर्ट में जा पहुँची, और खेलने लगी।

आज से तीन वर्ष पूर्व बाबूजी को इसी प्रकार बुखार आ गया था, मैं रात-भर उन्हें पंखा झलती रही थी। हृदय व्याकुल था, और यही जी चाहता था कि इनके बदले मुझे बुखार आ जाय, परंतु यह उठ बैठें! पर अब हृदय तो स्नेह-शून्य हो गया था, दिखावा अधिक था। अकेले रोने की मुझमें क्षमता न रह गई थी। मैं सदैव की भाँति रात को नौ बजे लौटी। बाबूजी का जी कुछ अच्छा जान पड़ा। उन्होंने मुझे केवल दबी दृष्टि से देखा, और करवट बदल ली। परंतु मैं लेटी, तो मेरा ही हृदय मुझे अपनी स्वार्थपरता और प्रमोदासक्ति पर धिक्कारता रहा।

मैं अब अँगरेज़ी-उपन्यासों को समझने लगी थी। हमारी बातचीत अधिक उत्कृष्ट और आलोचनात्मक होती थी।

हमारी सभ्यता का आदर्श अब बहुत ही उच्च हो गया था। हमें अब अपनी मित्र-मंडली से बाहर दूसरों से मिलने-जुलने में संकोच होता था। अब हम अपने से छोटी श्रेणी के लोगों से बोलने में अपना अपमान समझते थे। नौकरों को अपना नौकर समझते थे, और बस, हमें उनके निजी मामलों से कुछ मतलब न था। हम उनसे अलग रहकर उनके ऊपर अपना रोब जमाए रखना चाहते थे। हमारी इच्छा

यह थी कि वे हम लोगों को साहब समझें। हिंदुस्थानी स्त्रियों को देखकर मुझे उनसे घृणा होती थी; उनमें शिष्टता न थी। खैर।

बाबूजी का जी दूसरे दिन भी न सँभला। मैं क्लब न गई। परंतु जब लगातार तीन दिन तक उन्हें बुख़ार आता गया, और मिसेज़ दास ने बारंबार एक नर्स बुलाने का आदेश किया, तो मैं सहमत हो गई। उस दिन से रोगी की सेवा-शुश्रूषा से छुट्टी पाकर बड़ा हर्ष हुआ। यद्यपि दो दिन मैं क्लब न गई थी, परंतु मेरा जी वहीं लगा रहता था; बल्कि अपने भीरुता-पूर्ण त्याग पर क्रोध भी आता था।

एक दिन तीसरे पहर मैं कुरसी पर लेटी हुई एक अँगरेज़ी-पुस्तक पढ़ रही थी। अचानक मन में यह विचार उठा कि बाबूजी का बुख़ार असाध्य हो जाय, तो? परंतु इस विचार से मुझे लेश-मात्र भी दुःख न हुआ। मैं इस शोकमय कल्पना का मन-ही-मन आनंद उठाने लगी। मिसेज़ दास, मिसेज़ नायडू, मिसेज़ श्रीवास्तव, मिस खरे, मिसेज़ शरगा अवश्य ही मातमपुर्सी करने आवेंगी। उन्हें देखते ही मैं सजल-नेत्र हो उठूँगी, और कहूँगी—"बहनो! मैं लुट गई, हाय, मैं लुट गई! अब मेरा जीवन अँधेरी रात के भयावह वन या श्मशान के दीपक के समान है! परंतु मेरी अवस्था पर दुःख न प्रकट करो। मुझ पर जो पड़ेगी, उसे मैं उस महान् आत्मा की मोक्ष के विचार से सह लूँगी।"

मैंने इस प्रकार मन में एक शोक-पूर्ण व्याख्यान की रचना कर डाली। यहाँ तक कि अपने उस वस्त्र के विषय में भी निश्चय कर लिया, जो मृतक के साथ श्मशान जाते समय पहनूँगी।

इस घटना की शहर-भर में चर्चा हो जायगी। सारे कैंटूमेंन्ट के लोग मुझे समवेदना के पत्र भेजेंगे। तब मैं उनका उत्तर समाचार-पत्रों में प्रकाशित करा दूँगी कि मैं प्रत्येक शोक-पत्र का उत्तर देने में असमर्थ हूँ। हृदय के टुकड़े-टुकड़े हो गए हैं, उसे रोने के सिवा और किसी काम के लिये समय नहीं। मैं इस हमदर्दी के लिये उन लोगों की कृतज्ञ हूँ,

और उनसे विनय-पूर्वक निवेदन करती हूँ कि वे मृतक की आत्मा की सद्गति के निमित्त ईश्वर से प्रार्थना करें।

मैं इन्हीं विचारों में डूबी हुई थी कि नर्स ने आकर कहा—"आपको साहब याद करते हैं।" यह मेरे क्लब जाने का समय था। मुझे उनका बुलाना अखर गया। लेकिन क्या करती, किसी तरह उनके पास गई। बाबूजी को बीमार हुए लगभग एक मास हो गया था। वह अत्यंत दुर्बल हो रहे थे। उन्होंने मेरी ओर विनय-पूर्ण दृष्टि से देखा। उसमें आँसू भरे हुए थे। मुझे उन पर दया आई। बैठ गई, और ढाढ़स देते हुए बोली—"क्या करूँ? कोई दूसरा डॉक्टर बुलाऊँ?"

बाबूजी आँखें नीची करके, अत्यंत करुण भाव से, बोले—"मैं यहाँ कभी नहीं अच्छा हो सकता, मुझे अम्मा के पास पहुँचा दो।"

मैंने कहा—"क्या आप समझते हैं कि वहाँ आपकी चिकित्सा यहाँ से अच्छी होगी?"

बाबूजी बोले—"क्या जानें क्यों मेरा जी अम्मा के दर्शनों को लालायित हो रहा है। मुझे ऐसा मालूम होता है कि मैं वहाँ बिना दवा-दर्पन के भी अच्छा हो जाऊँगा।"

मैं—"यह आपका केवल विचार-मात्र है।"

बाबूजी—"शायद ऐसा ही हो। लेकिन मेरी यह विनय स्वीकार करो। मैं इस रोग से नहीं, इस जीवन से ही दुःखित हूँ।"

मैंने अचरज से उनकी ओर देखा।

बाबूजी फिर बोले—"हाँ, मैं इस ज़िंदगी से तंग आ गया हूँ। मैं अब समझ रहा हूँ कि मैं जिस स्वच्छ, लहराते हुए निर्मल जल की ओर दौड़ा जा रहा था, वह मरु-भूमि है। मैं इस प्रकार के जीवन के बाहरी रूप पर लट्टू हो रहा था; परंतु अब मुझे उसकी आंतरिक अवस्थाओं का बोध हो रहा है। इन चार वर्षों में मैंने इस उपवन में खूब भ्रमण किया, और उसे आदि से अंत तक कंटकमय पाया। यहाँ न तो हृदय

की शांति है, न आत्मिक आनंद । यह एक उन्मत्त, अशांतिमय, स्वार्थ-पूर्ण, विलास-युक्त जीवन है । यहाँ न नीति है, न धर्म, न सहानुभूति, न सहृदयता । परमात्मा के लिये मुझे इस अग्नि से बचाओ । यदि और कोई उपाय न हो, तो अम्मा को एक पत्र ही लिख दो । वह अवश्य यहाँ आवेंगी । अपने अभागे पुत्र का दुःख उनसे न देखा जायगा । उन्हें इस सोसाइटी की हवा अभी नहीं लगी, वह आवेंगी । उनकी वह ममता-पूर्ण दृष्टि, वह स्नेह-पूर्ण शुश्रूषा मेरे लिये सौ ओषधियों का काम करेगी । उनके मुख पर वह ज्योति प्रकाशमान होगी, जिसके लिये मेरे नेत्र तरस रहे हैं । उनके हृदय में स्नेह है, सत्य है, विश्वास है । यदि उनकी गोद में मैं मर भी जाऊँ, तो मेरी आत्मा को शांति मिलेगी ।"

मैं समझी, यह बुखार की बक-झक है । नर्स से कहा—"ज़रा इनका टॅम्परेचर तो लो, मैं अभी डॉक्टर के पास जाती हूँ ।" मेरा हृदय एक अज्ञात भय से काँपने लगा । नर्स ने थरमामीटर निकाला, परंतु ज्यों ही वह बाबूजी के समीप गई, उन्होंने उसके हाथ से वह यंत्र छीनकर पृथ्वी पर पटक दिया । उसके टुकड़े-टुकड़े हो गए । फिर मेरी ओर एक अव-हेला-पूर्ण दृष्टि से देखकर कहा—"साफ़-साफ़ क्यों नहीं कहती हो कि मैं क्लब-घर जाती हूँ, जिसके लिये तुमने ये वस्त्र धारण किए हैं, और गाउन पहनी है । ख़ैर, उधर से घूमती हुई यदि डॉक्टर के पास जाना, तो उनसे कह देना कि यहाँ टॅम्परेचर उस बिंदु पर आ पहुँचा है, जहाँ आग लग जाती है ।"

मैं और भी अधिक भयभीत हो गई । हृदय में एक करुण चिंता का संचार होने लगा । गला भर आया । बाबूजी ने नेत्र मूँद लिए थे, और उनकी साँस वेग से चल रही थी । मैं द्वार की ओर चली कि किसी को डॉक्टर के पास भेजूँ । यह फटकार सुनकर स्वयं कैसे जाती ? इतने में बाबूजी उठ बैठे, और विनीत भाव से बोले—"श्यामा, मैं तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ । बात दो सप्ताह से मन में थी, पर साहस न हुआ ।

आज मैंने निश्चय कर लिया है कि कह ही डालूँ। मैं अब फिर अपने घर जाकर वही पहले की-सी ज़िंदगी बिताना चाहता हूँ। मुझे अब इस जीवन से घृणा हो गई है, और यही मेरी बीमारी का मुख्य कारण है। मुझे शारीरिक नहीं, मानसिक कष्ट है। मैं फिर तुम्हें वही पहले की-सी सलज्ज, नीचा सिर करके चलनेवाली, पूजा करनेवाली, रामायण पढ़नेवाली, घर का काम-काज करनेवाली, चरखा कातनेवाली, ईश्वर से डरनेवाली, पति-श्रद्धा से परिपूर्ण स्त्री देखना चाहता हूँ। मैं विश्वास करता हूँ, तुम मुझे निराश न करोगी। मैं तुम्हें सोलहो आने अपनी बनाना और सोलहो आने तुम्हारा बनना चाहता हूँ। मैं अब समझ गया कि उसी सादे, पवित्र जीवन में वास्तविक सुख है। बोलो, स्वीकार है? तुमने सदैव मेरी आज्ञाओं का पालन किया है, इस समय निराश न करना, नहीं तो इस कष्ट और शोक का न-जाने कितना भयंकर परिणाम हो!"

मैं सहसा कोई उत्तर न दे सकी। मन में सोचने लगी, इस स्वतंत्र जीवन में कितना सुख था? ये मज़े वहाँ कहाँ? क्या इतने दिन स्वतंत्र वायु में विचरण करने के पश्चात् फिर उसी पिंजड़े में जाऊँ? वही लौंडी बनकर रहूँ। क्यों इन्होंने मुझे वर्षों स्वतंत्रता का पाठ पढ़ाया, वर्षों देवतों की, रामायण की, पूजा-पाठ की, व्रत-उपवास की बुराई की, हँसी उड़ाई? अब जब मैं उन बातों को भूल गई, उन्हें मिथ्या समझने लगी, तो फिर मुझे उसी अंध-कूप में ढकेलना चाहते हैं। मैं तो इन्हीं के इच्छानुसार चलती हूँ, फिर मेरा अपराध क्या है? लेकिन बाबूजी के मुख पर एक ऐसी दीनता-पूर्ण विवशता थी कि मैं प्रत्यक्ष अस्वीकार न कर सकी। बोली—"आखिर आपको यहाँ क्या कष्ट है?"

मैं उनके विचारों की तह तक पहुँचना चाहती थी।

बाबूजी फिर उठ बैठे, और मेरी ओर कठोर दृष्टि से देखकर बोले—"बहुत ही अच्छा होता कि तुम इस प्रश्न को मुझसे पूछने के बदले अपने ही हृदय से पूछ लेतीं। क्या अब मैं तुम्हारे लिये वही हूँ, जो

आज से तीन वर्ष पहले था ? जब मैं तुमसे अधिक शिक्षा-प्राप्त, अधिक बुद्धिमान्, अधिक जानकार होकर तुम्हारे लिये वह नहीं रहा, जो पहले था—तुमने चाहे इसका अनुभव न किया हो, परंतु मैं स्वयं कर रहा हूँ—तो मैं कैसे अनुमान करूँ कि उन्हीं भावों ने तुम्हें स्खलित न किया होगा ? नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष चिह्न देख पड़ते हैं कि तुम्हारे हृदय पर उन भावों का और भी अधिक प्रभाव पड़ा है। तुमने अपने को ऊपरी बनाव-चुनाव और विलास के भँवर में डाल दिया है, और तुम्हें उसकी लेश-मात्र भी सुध नहीं। अब मुझे पूर्ण विश्वास हो गया कि सभ्यता, स्वेच्छाचारिता का भूत स्त्रियों के कोमल हृदय पर बड़ी सुगमता से क़ब्ज़ा कर सकता है। क्या अब से तीन वर्ष पूर्व भी तुम्हें यह साहस हो सकता था कि मुझे इस दशा में छोड़कर किसी पड़ोसिन के यहाँ गाने-बजाने चली जातीं ? मैं बिछौने पर पड़ा रहता, और तुम किसी के घर जाकर कलोलें करतीं ? स्त्रियों का हृदय आधिक्य-प्रिय होता है, परंतु इस नवीन आधिक्य के बदले मुझे वह पुराना आधिक्य कहीं ज़्यादा पसंद है। उस आधिक्य का फल आत्मिक एवं शारीरिक अभ्युदय और हृदय की पवित्रता थी, पर इस आधिक्य का परिणाम है छिछोरापन, निर्लज्जता, दिखावा और स्वेच्छाचार। उस समय यदि तुम इस प्रकार मिस्टर दास के सम्मुख हँसतीं-बोलतीं, तो मैं या तो तुम्हें मार डालता या स्वयं विष-पान कर लेता। परंतु बेहयाई ऐसे जीवन का प्रधान तत्त्व है। मैं सब कुछ स्वयं देखता और सहता हूँ, और कदाचित् सहे भी जाता, यदि इस बीमारी ने मुझे सचेत न कर दिया होता। अब यदि तुम यहाँ बैठी भी रहो, तो मुझे संतोष न होगा, क्योंकि मुझे यह विचार दुःखित करता रहेगा कि तुम्हारा हृदय यहाँ नहीं है। मैंने अपने को इस इंद्रजाल से निकालने का निश्चय कर लिया है, जहाँ धन का नाम मान है, इंद्रिय-लिप्सा का सभ्यता और भ्रष्टता का विचार-स्वातंत्र्य। बोलो, मेरा प्रस्ताव स्वीकार है ?"

मेरे हृदय पर वज्रपात-सा हो गया। बाबूजी का अभिप्राय पूर्णतया

हृदयंगम हो गया। अभी हृदय में कुछ पुरानी लज्जा बाकी थी। यह यंत्रणा असह्य हो गई। लज्जा पुनर्जीवित हो उठी। अंतरात्मा ने कहा—"अवश्य! मैं अब वह नहीं हूँ, जो पहले थी। उस समय मैं इन्हें अपना इष्टदेव मानती थी, इनकी आज्ञा शिरोधार्य थी, पर अब यह मेरी दृष्टि में एक साधारण मनुष्य हैं। मिस्टर दास का चित्र मेरे नेत्रों के सामने खिंच गया। कल मेरे हृदय पर इस दुरात्मा की बातों का कैसा नशा छा गया था, यह सोचते ही नेत्र लज्जा से झुक गए। बाबूजी की आंतरिक अवस्था उनके मुखड़े ही से प्रकाशमान हो रही थी। स्वार्थ और विलास-लिप्सा के विचार मेरे हृदय से दूर हो गए। उनके बदले ये शब्द ज्वलंत अक्षरों में लिखे हुए नज़र आए—तूने फ़ैशन और वस्त्राभूषणों में अवश्य उन्नति की है, तुझमें अपने स्वत्वों का ज्ञान हो आया है, तुझमें जीवन के सुख भोगने की योग्यता अधिक हो गई है, तू अब अधिक गर्विणी, दृढ़-हृदय और शिक्षा-संपन्न भी हो गई है, लेकिन तेरे आत्मिक बल का विनाश हो गया है, क्योंकि तू अपने कर्तव्य को भूल गई है।

मैं दोनो हाथ जोड़कर बाबूजी के चरणों पर गिर पड़ी। कंठ रुँध गया, एक शब्द भी मुँह से न निकला, अश्रु-धारा बह चली! अब मैं फिर अपने घर पर आ गई हूँ। अम्माजी अब मेरा अधिक सम्मान करती हैं, बाबूजी संतुष्ट देख पड़ते हैं। वह अब स्वयं प्रतिदिन संध्या-वंदन करते हैं।

मिसेज़ दास के पत्र कभी कभी आते हैं। वे इलाहाबादी सोसाइटी के नवीन समाचारों से भरे होते हैं। मिस्टर दास और मिस भाटिया के संबंध में कलुषित बातें उड़ रही हैं। मैं इन पत्रों का उत्तर दे तो देती हूँ, परंतु चाहती हूँ कि वे अब न आते, तो अच्छा होता। वे मुझे उन दिनों की याद दिलाते हैं, जिन्हें मैं भूल जाना चाहती हूँ।

कल बाबूजी ने बहुत-सी पुरानी पोथियाँ अग्निदेव को अर्पण कीं। उनमें ख़ासकर वाइल्ड की कई पुस्तकें थीं। वह अब अँगरेज़ी-पुस्तकें

बहुत कम पढ़ते हैं। उन्हें कार्लाइल, रस्किन और एमर्सन के सिवा और कोई पुस्तक पढ़ते मैं नहीं देखती। मुझे तो अपनी रामायण और महाभारत में फिर वही आनंद प्राप्त होने लगा है। चरखा अब पहले से अधिक चलाती हूँ। क्योंकि इस बीच में चरखे ने खूब प्रचार पा लिया है।

बैंक का दिवाला

(१)

लखनऊ-नेशनल बैंक के बड़े दफ़्तर में लाला साईंदास आराम कुरसी पर लेटे हुए शेयरों का भाव देख और सोच रहे थे कि इस बार हिस्सेदारों को मुनाफ़ा कहाँ से दिया जायगा? चाय, कोयला या जूट के हिस्से ख़रीदने, चाँदी, सोने या रुई का सट्टा करने का इरादा करते, लेकिन नुक़सान के भय से कुछ तय न कर पाते थे। नाज के व्यापार में इस बार बड़ा घाटा रहा, हिस्सेदारों के ढाढ़स के लिये हानि-लाभ का कल्पित ब्यौरा दिखाना पड़ा, और नफ़ा पूँजी से देना पड़ा। इससे फिर नाज के व्यापार में हाथ डालते जी काँपता था।

पर रुपए को बेकार डाल रखना असंभव था। दो-एक दिन में उसे कहीं-न-कहीं लगाने का उचित उपाय करना ज़रूरी था, क्योंकि डाइरेक्टरों की तिमाही बैठक एक ही सप्ताह में होनेवाली थी, और यदि उस समय कोई निश्चय न हुआ, तो आगे तीन महीने तक फिर कुछ न हो सकेगा, छमाही के मुनाफ़े के बँटवारे के समय फिर वही फ़र्ज़ी कार्रवाई करनी पड़ेगी, जिसका बार-बार सहन करना बैंक के लिये कठिन है। बहुत देर तक इस उलझन में पड़े रहने के बाद साईंदास ने घंटी बजाई। इस पर बग़ल के दूसरे कमरे से एक बंगाली बाबू ने सिर निकालकर झाँका।

साईंदास—"ताता-स्टील कंपनी को एक पत्र लिख दीजिए कि अपना नया बैलेंस-शीट भेज दें।"

बाबू—"उन लोगों को रुपया का ग़रज़ नहीं। चिट्ठी का जवाब नहीं देता।"

साईंदास—"अच्छा, नागपुर की स्वदेशी मिल को लिखिए।"

बाबू—"उसका कारोबार अच्छा नहीं है। अभी उसके मज़दूरों ने हड़ताल किया था। दो महीने तक मिल बंद रहा।"

साईंदास—"अजी, तो कहीं लिखो भी। तुम्हारी समझ में तो सारी दुनिया बेईमानों से भरी है।"

बाबू—"बाबा, लिखने को तो हम सब जगह लिख दें, मगर खाली लिख देने से तो कुछ लाभ नहीं होता।"

लाला साईंदास अपने कुल, प्रतिष्ठा और मर्यादा के कारण बैंक के मैनेजिंग डाइरेक्टर हो गए थे, पर व्यावहारिक बातों से अपरिचित थे। यही बंगाली बाबू इनके सलाहकार थे, और बाबू साहब को किसी कार-खाने या कंपनी पर भरोसा न था। इन्हीं के अविश्वास के कारण पिछले साल बैंक का रुपया संदूक़ से बाहर न निकल सका था, और अब वही रंग फिर दिखाई देता था। साईंदास को इस कठिनाई से बचने का कोई उपाय न सूझता था। न इतनी हिम्मत थी कि अपने भरोसे किसी व्यापार में हाथ डालें। बेचैनी की दशा में उठकर कमरे में टहलने लगे कि दर-बान ने आकर ख़बर दी—"बरहल की महारानी की सवारी आई है।"

(२)

लाला साईंदास चौंक पड़े। बरहल की महारानी को लखनऊ आए तीन-चार दिन हुए थे, और हरएक के मुँह से उन्हीं की चर्चा सुनाई देती थी। कोई उनके पहनावे पर मुग्ध था, कोई सुंदरता पर, कोई उनकी स्वच्छंद वृत्ति पर। यहाँ तक कि उनकी दासियाँ और सिपाही आदि भी लोगों की चर्चा के पात्र बने हुए थे। रॉयल होटल के द्वार पर दर्शकों की भीड़-सी लगी रहती थी। कितने ही शौक़ीन, बेफ़िकरे लोग इत्र-फ़रोश, बज़ाज़ या तंबाकूगर का वेष धरकर उनका दर्शन कर चुके थे। जिधर से महारानी की सवारी निकल जाती, दर्शकों के ठट लग जाते थे। वाह-वाह, क्या शान है! ऐसी इराक़ी जोड़ी लाट साहब के सिवा किसी राजा-रईस के यहाँ तो शायद ही निकले। और, सजावट भी क्या ख़ूब है। भइ, ऐसे

गोरे आदमी तो यहाँ कभी नहीं दिखाई देते! यहाँ के रईस तो मृगांक, चंद्रोदय और ईश्वर जाने, क्या-क्या ख़ाक-बला खाते रहते हैं, पर किसी के वदन पर तेज या प्रकाश का नाम नहीं। ये लोग न-जाने क्या भोजन करते और किस कुएँ का जल पीते हैं कि जिसे देखिए, ताज़ा सेब बना हुआ है। यह सब जल-वायु का प्रभाव है।

बरहल उत्तर-दिशा में, नैपाल के समीप, अँगरेज़ी राज्य में, एक रियासत थी। यद्यपि जनता उसे बहुत मालदार समझती थी, पर वास्तव में उस रियासत की आमदनी दो लाख से अधिक न थी। हाँ, क्षेत्रफल बहुत विस्तृत था। बहुत भूमि ऊसर और उजाड़ थी। बसा हुआ भाग भी पहाड़ी और बंजर था। ज़मीन बहुत सस्ती उठती थी।

लाला साईंदास ने तुरंत अलगनी से रेशमी सूट उतारकर पहन लिया, और मेज़ पर आकर इस शान से बैठ गए, मानो राजा-रानियों का यहाँ आना कोई असाधारण बात नहीं। दफ़्तर के क्लर्क भी सँभल गए। सारे बैंक में सन्नाटे की हलचल पैदा हो गई। दरबान ने पगड़ी सँभाली। चौकीदार ने तलवार निकाली, और अपने स्थान पर खड़ा हो गया। पंखा-कुली की मीठी नींद भी टूटी, और बंगाली बाबू महारानी के स्वागत के लिये दफ़्तर से बाहर निकले।

साईंदास ने बाहरी ठाट तो बना लिया, किंतु चित्त आशा और भय से चंचल हो रहा था। एक तो रानी से व्यवहार करने का यह पहला ही अवसर था, घबराते थे कि बात करते बने, या न बने। रईसों का मिज़ाज आसमान पर होता है। मालूम नहीं, मैं बात करने में कहाँ चूक जाऊँ। उन्हें इस समय अपने में एक कमी मालूम हो रही थी। वह राजसी नियमों से अनभिज्ञ थे। उनका सम्मान किस प्रकार करना चाहिए, उनसे बातें करने में किन बातों का ध्यान रखना चाहिए, उनकी मर्यादा-रक्षा के लिये कितनी नम्रता उचित है, इस प्रकार के प्रश्नों से वह बड़े असमंजस में पड़े हुए थे, और जी चाहता था कि किसी तरह इस परीक्षा से शीघ्र

छुटकारा हो जाय। व्यापारियों, मामूली ज़मींदारों या रईसों से वह रुखाई और सफ़ाई का बर्ताव किया करते थे, और पढ़े-लिखे सज्जनों से शील और शिष्टता का। उन अवसरों पर उन्हें किसी विशेष विचार की आवश्यकता न होती थी, पर इस समय ऐसी परेशानी हो रही थी, जैसे कोई लंका-वासी तिब्बत में आ गया हो, जहाँ के रस्म-रिवाज और बातचीत का उसे ज्ञान न हो।

एकाएक उनकी दृष्टि घड़ी पर पड़ी। तीसरे पहर के चार बज चुके थे, परंतु घड़ी अभी दोपहर की नींद में मग्न थी। तारीख़ की सुई ने दौड़ में समय को भी मात कर दिया था। वह जल्दी से उठे कि घड़ी को ठीक कर दें, इतने में महारानी का कमरे में पदार्पण हुआ। साईंदास ने घड़ी को छोड़ा, और महारानी के निकट जा बग़ल में खड़े हो गए। निश्चय न कर सके कि हाथ मिलावें या झुककर सलाम करें। रानीजी ने स्वयं हाथ बढ़ाकर उन्हें इस उलझन से छुड़ाया।

जब लोग कुर्सियों पर बैठ गए, तो रानी के प्राइवेट सेक्रेटरी ने व्यवहार की बातचीत शुरू की। बरहल की पुरानी गाथा सुनाने के बाद उसने उन उन्नतियों का वर्णन किया, जो रानी साहबा के प्रयत्न से हुई थीं। इस समय नहरों की एक शाखा निकालने के लिये दस लाख रुपयों की आवश्यकता थी, और यद्यपि रानी साहबा किसी अँगरेज़ी बैंक से रुपए ले सकती थीं, परंतु उन्होंने एक हिंदुस्थानी बैंक से ही व्यवहार करना अच्छा समझा। अब यह निर्णय नेशनल बैंक के हाथ में था कि इस अवसर से लाभ उठाना चाहता है या नहीं?

बंगाली बाबू—"हम रुपया दे सकता है, मगर काग़ज़-पत्तर देखे बिना कुछ नहीं कर सकता।"

सेक्रेटरी—"आप कोई ज़मानत चाहते हैं?"

साईंदास उदारता से बोले—"महाशय, ज़मानत के लिये आपकी ज़बान ही काफ़ी है।"

बंगाली बाबू—"आपके पास रियासत का कोई हिसाब-किताब है ?"

लाला साईंदास को अपने हेडक्लर्क का यह दुनियादारी का बर्ताव अच्छा न लगता था। वह इस समय उदारता के नशे में चूर थे। महारानी की सूरत ही पक्की ज़मानत थी; उनके सामने कागज़ और हिसाब का वर्णन करना बनियापन जान पड़ता था, जिससे अविश्वास की गंध आती है।

महिलाओं के सामने हम शील और संकोच के पुतले बन जाते हैं। साईंदास बंगाली बाबू की ओर क्रूर-कठोर दृष्टि से देखकर बोले—"कागज़ों की जाँच कोई आवश्यक बात नहीं है, केवल हमें विश्वास होना चाहिए।"

बंगाली बाबू—"डाइरेक्टर लोग कभी न मानेगा।"

साईंदास—"हमें इसकी परवा नहीं। हम अपनी ज़िम्मेदारी पर रुपए दे सकते हैं।"

रानी ने साईंदास की ओर कृतज्ञता-पूर्ण दृष्टि से देखा। उनके ओठों पर हलकी मुस्किराहट दिखलाई पड़ी।

(३)

परंतु डाइरेक्टरों ने हिसाब-किताब, आय-व्यय देखना आवश्यक समझा, और यह काम लाला साईंदास के ही सिपुर्द हुआ, क्योंकि और किसी को अपने काम से फ़ुरसत न थी कि वह एक पूरे दफ़्तर का मुआइना करता। साईंदास ने नियम-पालन किया। तीन-चार दिन तक हिसाब जाँचते रहे। तब अपने इतमीनान के अनुकूल रिपोर्ट लिखी। मामला तय हो गया। दस्तावेज़ लिखा गया, रुपए दे दिए गए। ६) सैकड़े ब्याज ठहरा।

तीन साल तक बैंक के कारोबार में अच्छी उन्नति हुई। छठे महीने विना कहे-सुने पैंतालीस हज़ार रुपयों की थैली दफ़्तर में आ जाती थी। व्यवहारियों को ५) सैकड़े ब्याज दे दिया जाता था। हिस्सेदारों को ७) सैकड़े लाभ था।

साईदास से सब लोग प्रसन्न थे। सब लोग उनकी सूझ-बूझ की प्रशंसा करते थे। यहाँ तक कि बंगाली बाबू भी धीरे-धीरे उनके क़ायल होते जाते थे। साईदास उनसे कहा करते—"बाबूजी, विश्वास संसार से न कभी लुप्त हुआ है, और न होगा। सत्य पर विश्वास रखना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है। जिस मनुष्य के चित्त से यह विश्वास जाता रहता है, उसे मृतक समझना चाहिए। उसे जान पड़ता है, मैं चारो ओर शत्रुओं से घिरा हुआ हूँ। बड़े-से-बड़े सिद्ध-महात्मा भी उसे रँगे सियार जान पड़ते हैं। सच्चे-से-सच्चा देश-प्रेमी उसकी दृष्टि में अपनी प्रशंसा का भूखा ही ठहरता है। संसार उसे धोके और छल से परिपूर्ण दिखाई देता है। यहाँ तक कि उसके मन से परमात्मा पर श्रद्धा और भक्ति लुप्त हो जाती है। एक प्रसिद्ध फ़िलॉस्फ़र का कथन है कि प्रत्येक मनुष्य को, जब तक कि उसके विरुद्ध कोई प्रत्यक्ष प्रमाण न पाओ, भलामानस समझो। वर्तमान शासन-प्रथा इसी महत्त्व-पूर्ण सिद्धांत पर गठित है। और, घृणा तो किसी से करनी ही न चाहिए। हमारी आत्माएँ पवित्र हैं; उनसे घृणा करना परमात्मा से घृणा करने के समान है। यह मैं नहीं कहता कि संसार में कपट-छल है ही नहीं। है, और बहुत अधिकता से है, परंतु उसका निवारण अविश्वास से नहीं, मानव-चरित्र के ज्ञान से होता है, और यह एक ईश्वर-दत्त गुण है। मैं यह दावा तो नहीं करता, परंतु मुझे विश्वास है कि मैं मनुष्य को देखकर उसके आंतरिक भावों तक पहुँच जाता हूँ। कोई कितना ही वेष बदले, रंग-रूप सँवारे, परंतु मेरी अंतर्दृष्टि को धोका नहीं दे सकता। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि विश्वास से विश्वास उत्पन्न होता है, और अविश्वास से अविश्वास। यह प्राकृतिक नियम है। जिस मनुष्य को आप शुरू से ही धूर्त, कपटी, दुर्जन समझ लेंगे, वह कभी आपसे निष्कपट व्यवहार न करेगा। वह एकाएक आपको नीचा दिखाने का यत्न करेगा। इसके विपरीत आप एक चोर पर भी भरोसा करें, तो वह आपका दास

हो जायगा। सारे संसार को लूटे, परंतु आपको धोका न देगा। वह कितना ही कुकर्मी, अधर्मी क्यों न हो, पर आप उसके गले में विश्वास की ज़ंजीर डालकर उसे जिस ओर चाहें, ले जा सकते हैं। यहाँ तक कि वह आपके हाथों पुण्यात्मा भी बन सकता है।"

बंगाली बाबू के पास इन दार्शनिक तर्कों का कोई उत्तर न था।

(४)

चौथे वर्ष की पहली तारीख़ थी। लाला साईंदास बैंक के दफ़्तर में बैठे डाकिए की राह देख रहे थे। आज बरहल से पैंतालीस हज़ार रुपए आवेंगे। अबकी उनका इरादा था कि कुछ सजावट के सामान और मोल ले लें। अब तक बैंक में टेलीफ़ोन नहीं था। उसका भी तख़मीना मँगा लिया था। आशा की आभा चेहरे से झलक रही थी। बंगाली बाबू से हँसकर कहते थे—इस तारीख़ को मेरे हाथों में अदबदा के खुजली होने लगती है। आज भी हथेली खुजला रही है। कभी दफ़्तरी से कहते—अरे मियाँ शफ़क़त, ज़रा सगुन तो विचारो; सिर्फ़ सूद-ही-सूद आ रहा है, या दफ़्तरवालों के लिये नज़राना-शुकराना भी? आशा का प्रभाव कदाचित् स्थान पर भी होता है। बैंक आज भी खिला हुआ दिखलाई पड़ता था।

डाकिया ठीक समय पर आया। साईंदास ने लापरवाही से उसकी ओर देखा। उसने अपने थैले से कई रजिस्ट्री लिफ़ाफ़े निकाले। साईंदास ने उन लिफ़ाफ़ों को उड़ती निगाह से देखा। बरहल का कोई लिफ़ाफ़ा न था; न बीमा, न मुहर, न वह लिखावट। कुछ निराशा-सी हुई। जी में आया, डाकिए से पूछें, कोई और रजिस्ट्री रह तो नहीं गई? पर रुक गए। दफ़्तर के क्लर्कों के सामने इतना अधैर्य अनुचित था। किंतु जब डाकिया चलने लगा, तब उनसे न रहा गया। पूछ ही बैठे—"अरे भाई, कोई बीमा-लिफ़ाफ़ा रह तो नहीं गया? आज उसे आना चाहिए था।" डाकिए ने कहा—"सरकार, भला ऐसी बात हो सकती है! और कहीं

भूल-चूक चाहे हो भी जाय, पर आपके काम में कहीं भूल हो सकती है ?"

साईंदास का चेहरा उतर गया, जैसे कच्चे रंग पर पानी पड़ जाय। डाकिया चला गया, तो बंगाली बाबू से बोले—"यह देर क्यों हुई ? और तो कभी ऐसा न होता था !"

बंगाली बाबू ने निष्ठुर भाव से उत्तर दिया—"किसी कारण से देरी हो गया होगा। घबराने का कोई बात नहीं।"

निराशा असंभव को संभव बना देती है। साईंदास को इस समय यह ख़याल हुआ कि कदाचित् पारसल से रुपए आते हों। हो सकता है, तीन हज़ार अशरफ़ियों का पारसल कर दिया हो। यद्यपि इस विचार को औरों पर प्रकट करने का उन्हें साहस न हुआ, पर उन्हें यह आशा उस समय तक बनी रही, जब तक पारसलवाला डाकिया वापस नहीं गया। अंत में, संध्या को, वह बेचैनी की दशा में उठकर घर चले गए। अब ख़त या तार का इंतज़ार था। दो-तीन बार झुँझलाकर उठे कि डाँटकर पत्र लिखूँ, और साफ़-साफ़ कह दूँ कि लेन-देन के मामले में वादा पूरा न करना विश्वासघात है। एक दिन की देर भी बैंक के लिये घातक हो सकती है। इससे यह होगा कि फिर कभी ऐसी शिकायत करने का अवसर न मिलेगा। परंतु फिर कुछ सोचकर न लिखा।

शाम हो गई थी, कई मित्र आ गए। ग़प-शप होने लगी। इतने में पोस्टमैन ने आकर शाम की डाक दी। यों वह पहले अख़बारों को खोला करते थे, पर आज चिट्ठियाँ खोलीं, किंतु बरहल का कोई ख़त न था। तब बेमन हो एक अँगरेज़ी का अख़बार खोला। पहले ही तार का शीर्षक देखकर उनका ख़ून सर्द हो गया। लिखा था—

"कल शाम को बरहल की महारानीजी का, तीन दिन की बीमारी के बाद, देहांत हो गया !"

इसके आगे एक संक्षिप्त नोट में यह लिखा हुआ था—"बरहल की

महारानी की अकाल मृत्यु केवल इस रियासत के लिये ही नहीं, प्रत्युत समस्त प्रांत के लिये एक शोक-जनक घटना है। बड़े-बड़े भिषगाचार्य (वैद्यराज) अभी रोग की परख भी न कर पाए थे कि मृत्यु ने काम तमाम कर दिया! रानीजी को सदैव अपनी रियासत की उन्नति का ध्यान रहता था। उनके थोड़े-से राज्य-काल में ही उनसे रियासत को जो लाभ हुए हैं, वे चिर काल तक स्मरण रहेंगे। यद्यपि यह मानी हुई बात थी कि राज्य उनके बाद दूसरों के हाथ जायगा, तथापि यह विचार कभी रानी साहबा के कर्तव्य-पालन का बाधक नहीं बना। शास्त्रानुसार उन्हें रियासत की ज़मानत पर ऋण लेने का अधिकार न था, परंतु प्रजा की भलाई के विचार से उन्हें कई बार इस नियम का उल्लंघन करना पड़ा। हमें विश्वास है कि यदि वह कुछ दिन और जीवित रहतीं, तो रियासत को ऋण से मुक्त कर देतीं। उन्हें रात-दिन इसका ध्यान रहता था। परंतु इस असामयिक मृत्यु ने अब यह फ़ैसला दूसरों के अधीन कर दिया। देखना चाहिए, इन ऋणों का क्या परिणाम होता है। हमें विश्वस्त रीति से मालूम हुआ है कि नए महाराज ने, जो आजकल लखनऊ में विराजमान हैं, अपने वकीलों की सम्मति के अनुसार, मृतक महारानी के ऋण-संबंधी हिसाबों के चुकाने से इनकार कर दिया है। हमें भय है कि इस निश्चय से महाजनी टोले में बड़ी हलचल पैदा होगी, और लखनऊ के कितने ही धन-संपत्ति के स्वामियों को यह शिक्षा मिल जायगी कि व्याज का लोभ कितना अनिष्टकारी होता है।"

लाला साईंदास ने अख़बार मेज़ पर रख दिया, और आकाश की ओर देखा, जो निराशों का अंतिम आश्रय है। अन्य मित्रों ने भी यह समाचार पढ़ा। इस प्रश्न पर वाद-विवाद होने लगा। साईदास पर चारो ओर से बौछार पड़ने लगी। सारा दोष उन्हीं के सिर मढ़ा गया, और उनकी चिर काल की कार्य-कुशलता और परिणाम-दर्शिता मिट्टी में मिल गई। बैंक इतना बड़ा घाटा सहने में असमर्थ था।

अब यह विचार उपस्थित हुआ कि कैसे उसके प्राणों की रक्षा की जाय !

(५)

शहर में यह खबर फैलते ही लोग अपने रुपए वापस लेने के लिये आतुर हो गए। सुबह से शाम तक लेनदारों का ताँता लगा रहता था। जिन लोगों का धन चलतू हिसाब में जमा था, उन्होंने तुरंत निकाल लिया, कोई उज़्र न सुना। यह उसी पत्र के लेख का फल था कि नेशनल बैंक की साख उठ गई। धीरज से काम लेते, तो बैंक सँभल जाता, परंतु आँधी और तूफ़ान में कौन नौका स्थिर रह सकती है ? अंत में खज़ांची ने टाट उलट दिया। बैंक की नसों से इतनी रक्त-धारें निकलीं कि वह प्राण-रहित हो गया।

तीन दिन बीत चुके थे। बैंक के सामने सहस्रों आदमी एकत्र थे। बैंक के द्वार पर सशस्त्र सिपाहियों का पहरा था। नाना प्रकार की अफ़वाहें उड़ रही थीं। कभी खबर उड़ती, लाला साईदास ने विष-पान कर लिया। कोई उनके पकड़े जाने की सूचना लाता था। कोई कहता था—डाइरेक्टर हवालात के भीतर हो गए।

एकाएक सड़क पर से एक मोटर निकली, और बैंक के सामने आकर रुक गई। किसी ने कहा—"बरहल के महाराजा की मोटर है।" इतना सुनते ही सैकड़ों मनुष्य मोटर की ओर घबराए हुए दौड़े, और उन्होंने मोटर को घेर लिया।

कुँवर जगदीशसिंह महारानी की मृत्यु के बाद वकीलों से सलाह लेने लखनऊ आए थे। बहुत कुछ सामान भी खरीदना था। वे इच्छाएँ, जो चिर काल से ऐसे सुअवसर की प्रतीक्षा में थीं, बँधे पानी की भाँति राह पाकर उबली पड़ती थीं। यह मोटर आज ही ली गई थी। नगर में एक कोठी लेने की बातचीत हो रही थी। बहुमूल्य विलास-वस्तुओं से लदी एक गाड़ी बरहल के लिये चल चुकी थी। यहाँ भीड़ देखी, तो सोचा,

कोई नवीन नाटक होनेवाला है। मोटर रोक दी। इतने में सैकड़ों आदमियों की भीड़ लग गई।

कुँअर साहब ने पूछा—"यहाँ आप लोग क्यों जमा हैं? कोई तमाशा होनेवाला है क्या?"

एक महाशय, जो देखने में कोई बिगड़े रईस मालूम होते थे, बोले—"जी हाँ, बड़ा मज़ेदार तमाशा है।"

कुँअर—"किसका तमाशा है?"

वह—"तक़दीर का।"

कुँअर महाशय को यह उत्तर पाकर आश्चर्य तो हुआ, परंतु सुनते आए थे कि लखनऊवाले बात-बात में बात निकाला करते हैं, अतः उसी ढंग से उत्तर देना आवश्यक हुआ। बोले—"तक़दीर का खेल देखने के लिये यहाँ आना तो आवश्यक नहीं।"

लखनवी महाशय ने कहा—"आपका कहना सच है, लेकिन दूसरी जगह यह मज़ा कहाँ? यहाँ सुबह से शाम तक के बीच में भाग्य ने कितनों को धनी से निर्धन और निर्धन से भिखारी बना दिया। सबेरे जो लोग महलों में बैठे थे, उन्हें इस समय वृक्ष की छाया भी नसीब नहीं। जिनके द्वार पर सदाबर्त खुले थे, उन्हें इस समय रोटियों के लाले पड़े हैं। अभी एक सप्ताह पहले जो लोग काल-गति, भाग्य के खेल और समय के फेर को कवियों की उपमा समझते थे, इस समय उनकी आह और करुण क्रंदन वियोगियों को भी लज्जित करता है। ऐसे तमाशे और कहाँ देखने में आवेंगे?"

कुँअर—"जनाब, आपने तो पहेली को और गूढ़ कर दिया। मैं देहाती हूँ, मुझसे साधारण तौर से बात कीजिए।"

इस पर एक सज्जन ने कहा—"साहब, यह नेशनल बैंक है। इसका दिवाला निकल गया है। आदाबअर्ज़, मुझे पहचाना?"

कुँअर साहब ने उनकी ओर देखा, तो मोटर से कूद पड़े, और उनसे

हाथ मिलाते हुए बोले—"अरे, मिस्टर नसीम ? तुम यहाँ कहाँ ? भइ, तुमसे मिलकर बड़ा आनंद हुआ।"

मिस्टर नसीम कुँअर साहब के साथ देहरादून-कॉलेज में पढ़ते थे। दोनो साथ-साथ देहरादून की पहाड़ियों पर सैर करने जाया करते थे। परंतु जब से कुँअर महाशय ने घर के झंझटों से विवश होकर कॉलेज छोड़ा, तब से दोनो मित्रों में भेंट न हुई थी। नसीम भी उनके आने के कुछ समय पीछे अपने घर लखनऊ चले आए थे।

नसीम ने उत्तर दिया—"शुक्र है, आपने पहचाना तो। कहिए, अब तो पौ-बारह हैं। कुछ दोस्तों की भी सुध है ?"

कुँअर—"सच कहता हूँ, तुम्हारी याद हमेशा आया करती थी। कहो, आराम से तो हो ? मैं रॉयल-होटल में टिका हुआ हूँ. आज आओ, तो इतमीनान से बातचीत हो।"

नसीम—"जनाब, इतमीनान तो नेशनल बैंक के साथ चला गया। अब तो रोज़ी की फ़िक्र सवार है। जो कुछ जमा-पूँजी थी, सब आपकी भेंट हुई। इस दिवाले ने फ़क़ीर बना दिया। अब आपके दरवाज़े पर आकर धरना दूँगा।"

कुँअर—"तुम्हारा घर है। बेखटके आओ। मेरे साथ ही क्यों न चलो। क्या बतलाऊँ, मुझे कुछ भी ध्यान न था कि मेरे इनकार करने का यह फल होगा। जान पड़ता है, बैंक ने बहुतेरों को तबाह कर दिया।"

नसीम—"घर-घर मातम छाया हुआ है। मेरे पास तो इन कपड़ों के सिवा और कुछ नहीं रहा।"

इतने में एक तिलकधारी पंडितजी आ गए, और बोले—"साहब, आपके शरीर पर वस्त्र तो हैं, यहाँ तो धरती-आकाश, कहीं ठिकाना नहीं है। मैं राघोजी-पाठशाला का अध्यापक हूँ। पाठशाला का सब धन इसी बैंक में जमा था। पचास विद्यार्थी इसी के आसरे संस्कृत पढ़ते और

भोजन पाते थे। कल से पाठशाला बंद हो जायगी। दूर-दूर के विद्यार्थी हैं। वे अपने घर किस तरह पहुँचेंगे, ईश्वर ही जाने।"

एक महाशय, जिनके सिर पर पंजाबी ढंग की पगड़ी थी, गाढ़े का कोट और चमरौधा जूता पहने हुए थे, आगे बढ़ आए, और नेतृत्व के भाव से बोले—"महाशय, इस बैंक के फ़ेलियर ने कितने ही इंस्टीट्यूशनों को समाप्त कर दिया। लाला दीनानाथ का अनाथालय अब एक दिन भी नहीं चल सकता। उसके एक लाख रुपए डूब गए। अभी पंद्रह दिन हुए, मैं डेपूटेशन से लौटा, तो पंद्रह हज़ार रुपए अनाथालय-कोश में जमा किए थे; मगर अब कहीं कौड़ी का ठिकाना नहीं।"

एक बूढ़े ने कहा—"साहब, मेरी तो ज़िंदगी-भर की कमाई मिट्टी में मिल गई! अब कफ़न का भी सहारा नहीं।"

धीरे-धीरे और लोग भी एकत्र हो गए, और साधारण बातचीत होने लगी। प्रत्येक मनुष्य अपने पासवाले को अपनी दुःख-कथा सुनाने लगा। कुँअर साहब आध घंटे तक नसीम के साथ खड़े ये विपद्-कथाएँ सुनते रहे। ज्यों ही मोटर पर बैठे, और होटल की ओर चलने की आज्ञा दी, त्यों ही उनकी दृष्टि एक मनुष्य पर पड़ी, जो पृथ्वी पर सिर झुकाए बैठा था। यह एक अहीर था, लड़कपन में कुँअर साहब के साथ खेला था। उस समय उनमें ऊँच-नीच का विचार न था, साथ कबड्डी खेले, साथ पेड़ों पर चढ़े और चिड़ियों के बच्चे चुराए थे। जब कुँअरजी देहरादून पढ़ने गए, तब यह अहीर का लड़का शिवदास अपने बाप के साथ लखनऊ चला आया। उसने यहाँ एक दूध की दूकान खोल ली थी। कुँअर साहब ने उसे पहचाना और उच्च स्वर से पुकारा—"अरे शिवदास, इधर देखो।"

शिवदास ने बोली सुनी; परंतु सिर ऊपर न उठाया। वह अपने स्थान पर बैठा ही कुँअर साहब को देख रहा था। बचपन के वे दिन याद आ रहे थे, जब वह जगदीश के साथ गुल्ली-डंडा खेलता था, जब दोनों बुड्ढे

ग़फ़ूर मियाँ को मुँह चिढ़ाकर घर में छिप जाते थे, जब वह इशारों से जगदीश को गुरुजी के पास बुला देता था, और दोनो रामलीला देखने चले जाते थे। उसे विश्वास था कि कुँअरजी मुझे भूल गए होंगे। वे लड़कपन की बातें अब कहाँ? कहाँ मैं और कहाँ यह! लेकिन जब कुँअर साहब ने उसका नाम लेकर बुलाया, तो उनसे प्रसन्न होकर मिलने के बदले उसने और भी सिर नीचा कर लिया, और वहाँ से टल जाना चाहा। कुँअर साहब की सहृदयता में अब वह साम्य-भाव न था। मगर कुँअर साहब उसे हटते देखकर मोटर से उतरे, और उसका हाथ पकड़कर बोले—"अरे शिवदास, क्या मुझे भूल गए?"

अब शिवदास अपने मनोवेग को रोक न सका। उसके नेत्र डबडबा आए। कुँअर के गले से लिपट गया, और बोला—"भूला तो नहीं, पर आपके सामने आते लज्जा आती है।"

कुँअर—"यहाँ दूध की दूकान करते हो क्या? मुझे मालूम ही न था, नहीं तो अठवारों से पानी पीते-पीते ज़ुकाम क्यों होता? आओ, इस मोटर पर बैठ जाओ। मेरे साथ होटल तक चलो। तुमसे बातें करने को जी चाहता है। तुम्हें बरहल ले चलूँगा, और एक बार फिर गुल्ली-डंडे का खेल खेलेंगे।"

शिवदास—"ऐसा न कीजिए, नहीं तो देखनेवाले हँसेंगे। मैं होटल में आऊँगा। वही हज़रतगंजवाले होटल में ठहरे हैं न?"

कुँअर—"अवश्य, आओगे न?"

शिवदास—"आप बुलावेंगे, और मैं न आऊँगा?"

कुँअर—"यहाँ कैसे बैठे हो? दूकान तो चल रही है न?"

शिवदास—"आज सबेरे तक तो चलती थी। आगे का हाल नहीं मालूम।"

कुँअर—"तुम्हारे रुपए भी बैंक में जमा थे क्या?"

शिवदास—"जब आऊँगा, तो बताऊँगा।"

कुँअर साहब मोटर पर आ बैठे, और ड्राइवर से बोले—"होटल की ओर चलो।"

ड्राइवर—"हुज़ूर ने ह्वाइटवे-कंपनी की दूकान पर चलने की आज्ञा जो दी थी।"

कुँअर—"अब उधर न जाऊँगा।"

ड्राइवर—"जेकब साहब बारिस्टर के यहाँ भी न चलूँ?"

कुँअर—(झुँझलाकर) "नहीं, कहीं मत चलो। मुझे सीधे होटल पहुँचाओ।"

निराशा और विपत्ति के इन दृश्यों ने जगदीशसिंह के चित्त में यह प्रश्न उपस्थित कर दिया था कि अब मेरा क्या कर्तव्य है?

(६)

आज से सात वर्ष पूर्व, जब बरहल के महाराजा ठीक युवावस्था में घोड़े से गिरकर मर गए थे, विरासत का प्रश्न उठा, तो, महाराज के कोई सतान न होने के कारण, वंश-क्रम मिलाने से, उनके सगे चचेरे भाई ठाकुर रामसिंह को विरासत का हक़ पहुँचता था। उन्होंने दावा किया। लेकिन न्यायालयों ने रानी को ही हकदार ठहराया। ठाकुर साहब ने अपीलें कीं, प्रिवी-कौंसिल तक गए; परंतु सफलता न हुई। मुक़दमेबाज़ी में लाखों रुपए नष्ट हुए, अपने पास की मिलकियत भी हाथ से जाती रही; किंतु हारकर भी वह चैन से न बैठे। सदैव विधवा रानी को छेड़ते रहते। कभी असामियों को भड़काते, कभी हाकिमों से रानी की बुराई कराते, कभी उन्हें जाली मुदक़मों में फँसाने का उपाय करते। परंतु रानी भी बड़े जीवट की स्त्री थीं। वह ठाकुर साहब के प्रत्येक आघात का मुँहतोड़ उत्तर देतीं। हाँ, इस खींच-तान में उन्हें बड़ी-बड़ी रकमें अवश्य ख़र्च करनी पड़ती थीं। असामियों से रुपए न वसूल होते, इसलिये उन्हें बार-बार ऋण लेना पड़ता था। परंतु क़ानून के अनुसार उन्हें ऋण लेने का अधिकार न था। इसलिये उन्हें या तो इस

व्यवस्था को छिपाना पड़ता था, या सूद की गहरी दर स्वीकार करनी पड़ती थी।

कुँअर जगदीशसिंह का लड़कपन तो लाड़-प्यार से बीता था, परंतु जब ठाकुर रामसिंह मुक़दमेबाज़ी से बहुत तंग आ गए, और यह संदेह होने लगा कि कहीं रानी की चालों से कुँअर साहब का जीवन संकट में न पड़ जाय, तो उन्होंने विवश हो कुँअर साहब को देहरादून भेज दिया। कुँअर साहब वहाँ दो वर्ष तक तो आनंद से रहे, किंतु ज्यों ही कॉलेज की प्रथम श्रेणी में पहुँचे कि पिता परलोकवासी हो गए। कुँअर साहब को पढ़ाई छोड़नी पड़ी। बरहल चले आए। सिर पर कुटुंब-पालन और रानी से पुरानी शत्रुता के निभाने का बोझ आ पड़ा। उस समय से महा-रानी के मृत्युकाल तक उनकी दशा बहुत गिरी रही। ऋण या स्त्रियों के गहनों के सिवा और कोई आधार न था। उस कुल-मर्यादा की रक्षा की चिंता भी थी। ये तीन वर्ष उनके लिये कठिन परीक्षा के थे। आए दिन साहूकारों से काम पड़ता था। उनके निर्दयता-रूपी बाणों से कलेजा छिद गया था। हाकिमों के कठोर व्यवहार और अत्याचार भी सहने पड़ते। परंतु हृदय-विदारक अपने आत्मीय जनों का बर्ताव था, जो सामने घात न करके बग़ली चोटें करते थे, मित्रता और ऐक्य की आड़ में कपट का हाथ चलाते थे। इन कठोर यातनाओं ने कुँअर साहब को अधिकार, स्वेच्छा-चार और धन-संपत्ति का जानी दुश्मन बना दिया था। वह बड़े भावुक पुरुष थे। संबंधियों की अकृपा और देश-बंधुओं की दुर्नीति उनके हृदय पर काला चिह्न बनाती जाती थी। साहित्य-प्रेम ने उन्हें मानव-प्रकृति का तत्वान्वेषी बना दिया था, और जहाँ यह ज्ञान उन्हें प्रतिदिन सभ्यता से दूर लिए जाता था, वहाँ उनके चित्त में जन-सत्ता और साम्यवाद के विचार पुष्ट करता जाता था। उन पर प्रकट हो गया था कि यदि सद्व्यवहार जीवित है, तो वह झोपड़ों और ग़रीबी में ही। उस कठिन समय में, जब चारो ओर अँधेरा छाया हुआ था, उन्हें कभी-कभी सच्ची सहानुभूति का प्रकाश

यहीं दृष्टि-गोचर हो जाता था। धन-संपत्ति को वह श्रेष्ठ प्रसाद नहीं, ईश्वर का प्रकोप समझते थे, जो मनुष्य के हृदय से दया और प्रेम के भावों को मिटा देता है; यह वह मेघ है, जो चित्त के प्रकाशित तारों पर छा जाता है।

परंतु महारानी की मृत्यु के बाद ज्यों ही धन-संपत्ति ने उन पर वार किया, बस, दार्शनिक तर्कों की यह ढाल चूर-चूर हो गई। आत्मनिदर्शन की शक्ति नष्ट हो गई। वे मित्र बन गए, जो शत्रु-सरीखे थे, और जो सच्चे हितैषी थे, वे विस्मृत हो गए। साम्यवाद के मनोगत विचारों में घोर परिवर्तन आरंभ हो गया। हृदय में असहिष्णुता का उद्भव हुआ। त्याग ने भोग की ओर सिर झुका दिया। मर्यादा की बेड़ी गले में पड़ी। वे अधिकारी, जिन्हें देखकर उनके तेवर बदल जाते थे, अब उनके सलाहकार बन गए। दीनता और दरिद्रता को, जिनसे उन्हें सच्ची सहानुभूति थी, देखकर अब वह आँखें मूँद लेते थे।

इसमें संदेह नहीं कि कुँअर साहब अब भी साम्यवाद के भक्त थे; किंतु उन विचारों के प्रकट करने में वह पहले की-सी स्वतंत्रता न थी। विचार अब व्यवहार से डरता था। उन्हें कथन को कार्य-रूप में परिणत करने का अवसर प्राप्त था। पर अब कार्य-क्षेत्र कठिनाइयों से घिरा हुआ जान पड़ता था। बेगार के वह जानी दुश्मन थे; परंतु अब बेगार को बंद करना दुष्कर प्रतीत होता था। स्वच्छता और स्वास्थ्य-रक्षा के वह भक्त थे; किंतु अब धन-व्यय का ध्यान न करके भी उन्हें ग्रामवासियों की ही ओर से विरोध की शंका होती थी। असामियों से पोत उगाहने में कठोर बर्ताव को वह पाप समझते थे, मगर अब कठोरता के बिना काम चलता न जान पड़ता था। सारांश यह कि कितने ही सिद्धांत, जिन पर पहले उनकी श्रद्धा थी, अब असंगत प्रतीत होते थे।

परंतु आज जो दुःखजनक दृश्य बैंक के हाते में नज़र आए, उन्होंने उनके दया-भाव को जाग्रत् कर दिया। उस मनुष्य की-सी दशा हो गई,

जो नौका में बैठा सुरम्य तट की शोभा का आनंद उठाता हुआ किसी श्मशान के सामने आ जाय, चिता पर लाशें जलती देखे, शोक-संतप्तों के करुण क्रंदन को सुने, और नाव से उतरकर उनके दुःख में सम्मिलित हो जाय।

रात के दस बज गए थे। कुँअर साहब पलंग पर लेटे थे। बैंक के हाते का दृश्य आँखों के सामने नाच रहा था। वही विलाप-ध्वनि कानों में आ रही थी। चित्त में प्रश्न हो रहा था, क्या इस विडंबना का कारण मैं ही हूँ? मैंने तो वही किया, जिसका मुझे कानूनन् अधिकार था। यह बैंक के संचालकों की भूल है, जो उन्होंने बिना पूरी ज़मानत के इतनी बड़ी रक़म क़र्ज़ दे दी। लेनदारों को उन्हीं की गरदन नापनी चाहिए। मैं कोई खुदाई फ़ौजदार नहीं हूँ कि दूसरों की नादानी का फल भोगूँ। फिर विचार पलटा, मैं नाहक़ इस होटल में ठहरा। चालीस रुपए प्रतिदिन देने पड़ेंगे। कोई चार सौ रुपए के मत्थे जायगी। इतना सामान भी व्यर्थ ही लिया। क्या आवश्यकता थी? मखमली गद्दे की कुर्सियों या शीशे के सामानों की सजावट से मेरा गौरव नहीं बढ़ सकता। कोई साधारण मकान पाँच रुपए किराए पर ले लेता, तो क्या काम न चलता? मैं और साथ के सब आदमी आराम से रहते। यही न होता कि लोग निंदा करते। इसकी क्या चिंता। जिन लोगों के मत्थे यह ठाठ कर रहा हूँ, वे ग़रीब तो रोटियों को तरसते हैं। ये ही दस-बारह हज़ार रुपए लगाकर कुएँ बनवा देता, तो सहस्रों दीनों का भला होता। अब फिर लोगों के चकमे में न आऊँगा। यह मोटर-कार व्यर्थ है। मेरा समय इतना महँगा नहीं है कि घंटे-आध घंटे की किफ़ायत के लिये दो सौ रुपए महीने का ख़र्च बढ़ा लूँ। फ़ाक़ा करनेवाले असामियों के सामने मोटर दौड़ाना उनकी छातियों पर मूँग दलना है। माना कि वे रोब में आ जायँगे; जिधर से निकल जाऊँगा, सैकड़ों स्त्रियाँ और बच्चे देखने के लिये खड़े हो जायँगे;

मगर केवल इतना ही दिखावे के लिये इतना ख़र्च बढ़ाना मूर्खता है। यदि दूसरे रईस ऐसा करते हैं, तो करें, मैं उनकी बराबरी क्यों करूँ? अब तक दो हज़ार रुपए सालाने में मेरा निर्वाह हो जाता था। अब दो के बदले चार हज़ार बहुत हैं। फिर मुझे दूसरों की कमाई इस प्रकार उड़ाने का अधिकार ही क्या है? मैं कोई उद्योग-धंधा, कोई कारोबार नहीं करता, जिसका यह नफ़ा हो। यदि मेरे पुरखों ने हठधर्मी और ज़बर-दस्ती से इलाका अपने हाथ में कर लिया, तो मुझे उनके लूट के धन में शरीक होने का क्या अधिकार है? जो लोग परिश्रम करते हैं, उन्हें अपने परिश्रम का पूरा फल मिलना चाहिए। राज्य उन्हें केवल दूसरों के कठोर हाथों से बचाता है, उसे इस सेवा का उचित मुआवज़ा मिलना चाहिए। बस, मैं तो राज्य की ओर से यह मुआवज़ा वसूल करने के लिये नियत हूँ। इसके सिवा इन ग़रीबों की कमाई में मेरा और कोई भाग नहीं। ये बेचारे दीन हैं, मूर्ख हैं, बेज़बान हैं। इस समय हम इन्हें चाहे जितना सता लें। इन्हें अपने स्वत्व का ज्ञान नहीं। ये अपने महत्त्व को नहीं समझते। पर एक समय ऐसा अवश्य आवेगा, जब इनके मुँह में भी ज़बान होगी, इन्हें भी अपने अधिकारों का ज्ञान होगा। तब हमारी दशा बुरी होगी। ये भोग-विलास मुझे अपने असा-मियों से दूर किए देते हैं। मेरी भलाई इसी में है कि इन्हीं में रहूँ, इन्हीं की भाँति जीवन-निर्वाह और इनकी सहायता करूँ। हाँ, तो इस बैंक के बारे में क्या करूँ। कोई छोटी-मोटी रकम होती, तो कहता, लाओ, जिस तरह सिर पर बहुत-से भार हैं, उसी तरह यह भी सही। मूल के अलावा कई हज़ार रुपए सूद के अलग हुए। फिर महाजनों के भी तो तीन लाख रुपए हैं। रियासत की आमदनी डेढ़-दो लाख रुपए सालाना है, अधिक नहीं। मैं इतना बड़ा साहस करूँ भी, तो किस बिरते पर? हाँ, यदि बैरागी हो जाऊँ, तो संभव है, मेरे जीवन में—यदि कहीं अचानक मृत्यु न हो जाय तो—यह झगड़ा पाक हो

जाय। इस अग्नि में कूदना अपने संपूर्ण जीवन, अपनी उमंगों और अपनी आशाओं को भस्म करना है। आह! इस दिन की प्रतीक्षा में मैंने क्या-क्या कष्ट नहीं भोगे! पिताजी ने इसी चिंता में प्राण-त्याग किया। यह शुभ मुहूर्त हमारी अँधेरी रात के लिये दूर का दीपक था। हम इसी के आसरे जीवित थे। सोते-जागते सदैव इसी की चर्चा रहती थी। इससे चित्त को कितना संतोष और कितना अभिमान था। भूखे रहने के दिन भी हमारे तेवर मैले न होते थे। जब इतने धैर्य और असंतोष के बाद अच्छे दिन आए, तो उससे कैसे विमुख हुआ जाय? और, फिर अपनी ही चिंता तो नहीं, रियासत की उन्नति की कितनी ही स्कीमें सोच चुका हूँ। क्या अपनी इच्छाओं के साथ उन विचारों को भी त्याग दूँ? इस अभागी रानी ने मुझे बुरी तरह फँसाया। जब तक जीती रही, कभी चैन से न बैठने दिया। मरी, तो मेरे सिर यह बला डाल दी। परंतु मैं दरिद्रता से इतना डरता क्यों हूँ? दरिद्रता कोई पाप नहीं है। यदि मेरा त्याग हज़ारों घरानों को कष्ट और दुरवस्था से बचाए, तो मुझे उससे मुँह न मोड़ना चाहिए। केवल सुख से जीवन व्यतीत करना ही हमारा ध्येय नहीं है। हमारी मान-प्रतिष्ठा और कीर्ति सुख-भोग ही से तो नहीं हुआ करती। राज-मंदिरों में रहनेवाले और विलास में रत राणा प्रताप को कौन जानता है? यह उनका आत्मसमर्पण और कठिन व्रत-पालन ही है, जिसने उन्हें हमारी जाति का सूर्य बना दिया है। श्रीरामचंद्र ने यदि अपना जीवन सुख-भोग में बिताया होता, तो आज हम उनका नाम भी न जानते। उनके आत्मबलिदान ने ही उन्हें अमर बना दिया। हमारी प्रतिष्ठा धन और विलास पर अवलंबित नहीं है। मैं मोटर पर सवार हुआ तो क्या, टट्टू पर चढ़ा तो क्या; होटल में ठहरा तो क्या, और किसी मामूली घर में ठहरा तो क्या? बहुत होगा, ताल्लुकेदार लोग मेरी हँसी उड़ावेंगे। इसकी परवा नहीं। मैं तो हृदय से चाहता हूँ कि उन लोगों से अलग-अलग रहूँ। यदि इतनी

ही निंदा से सैकड़ों परिवारों का भला हो जाय, तो मैं मनुष्य नहीं, जो प्रसन्नता से उसे सहन न करूँ। यदि अपने घोड़े और फ़िटन, सैर और शिकार, नौकर-चाकर और स्वार्थ-साधक हित-मित्रों से रहित होकर मैं सहस्रों अमीर-ग़रीब कुटुंबों का, विधवाओं और अनाथों का भला कर सकूँ, तो मुझे इसमें कदापि विलंब न करना चाहिए। सहस्रों परिवारों के भाग्य इस समय मेरी मुट्ठी में हैं। मेरा सुख-भोग उनके लिये विष और मेरा आत्मसंयम उनके लिये अमृत है। मैं अमृत बन सकता हूँ, तो विष क्यों बनूँ? और फिर इसे आत्म-त्याग समझना भी मेरी भूल है। यह एक संयोग है कि मैं आज इस जायदाद का अधिकारी हूँ। मैंने उसे कमाया नहीं। उसके लिये रक्त नहीं बहाया, पसीना नहीं बहाया। यदि वह जायदाद मुझे न मिली होती, तो मैं सहस्रों दीन भाइयों की भाँति आज जीविकोपार्जन में लगा रहता। मैं क्यों न भूल जाऊँ कि मैं इस राज्य का स्वामी हूँ। ऐसे ही अवसरों पर मनुष्य की परख होती है। मैंने वर्षों पुस्तकावलोकन किया, वर्षों परोपकार-सिद्धांतों का अनुयायी रहा। यदि इस समय उन सिद्धांतों को भूल जाऊँ, और स्वार्थ को मनुष्यता और सदाचार से बढ़ने दूँ, तो वस्तुतः यह मेरी अत्यंत कायरता और स्वार्थपरता होगी। भला, स्वार्थ-साधन की शिक्षा के लिये गीता, मिल, एमर्सन और अरस्तू का शिष्य बनने की क्या आवश्यकता थी? यह पाठ तो मुझे अपने दूसरे भाइयों से यों ही मिल जाता। प्रचलित प्रथा से बढ़कर और कौन गुरु था? साधारण लोगों की भाँति क्या मैं भी स्वार्थ के सामने सिर झुका दूँ? तो फिर विशेषता क्या रही? नहीं, मैं कॉनशेंस (विवेक-बुद्धि) का ख़ून न करूँगा। जहाँ पुण्य कर सकता हूँ, पाप न करूँगा। परमात्मन्, तुम मेरी सहायता करो, तुमने मुझे राजपूत-घर में जन्म दिया है। मेरे कर्म से इस महान् जाति को लज्जित न करो। नहीं, कदापि नहीं। यह गरदन स्वार्थ के सम्मुख न झुकेगी। मैं राम, भीष्म और प्रताप का वंशज हूँ; शरीर-सेवक न बनूँगा।

कुँअर जगदीशसिंह को इस समय ऐसा ज्ञात हुआ, मानो वह किसी ऊँचे मीनार पर चढ़ गए हैं, चित्त अभिमान से पूरित हो गया। आँखें प्रकाशमान हो गईं। परंतु एक ही क्षण में इस उमंग का उतार होने लगा, ऊँचे मीनार से नीचे की ओर आँखें गईं। सारा शरीर काँप उठा। उस मनुष्य की-सी दशा हो गई, जो किसी नदी के तट पर बैठा हुआ उसमें कूदने का विचार कर रहा हो।

उन्होंने सोचा, क्या मेरे घर के लोग मुझसे सहमत होंगे? यदि मेरे कारण वे सहमत भी हो जायँ, तो क्या मुझे अधिकार है कि अपने साथ उनकी इच्छाओं का भी बलिदान करूँ? और तो और, माताजी कभी न मानेंगी, और कदाचित् भाई लोग भी अस्वीकार करें। रियासत की हैसियत को देखते हुए वे कम-से-कम दस हज़ार सालाना के हिस्सेदार हैं, और मैं उनके भाग में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकता। मैं केवल अपना मालिक हूँ। परंतु मैं भी तो अकेला नहीं हूँ। सावित्री स्वयं चाहे मेरे साथ आग में कूदने को तैयार हो; किंतु अपने प्यारे पुत्र को इस आँच के समीप कदापि न आने देगी।

कुँअर महाशय और अधिक न सोच सके। वह एक विकल दशा में पलँग पर से उठ बैठे, और कमरे में टहलने लगे। थोड़ी देर बाद उन्होंने जँगले से बाहर की ओर झाँका, और किवाड़ खोलकर बाहर चले आए। चारो ओर अँधेरा था। उनकी चिंताओं की भाँति सामने अपार और भयंकर गोमती-नदी बह रही थी। वह धीरे-धीरे नदी के तट पर चले गए, और देर तक वहाँ टहलते रहे। आकुल हृदय को जल-तरंगों से प्रेम होता है। शायद इसलिये कि लहरें भी व्याकुल हैं। उन्होंने अपने चंचल चित्त को फिर एकाग्र किया। यदि रियासत की आमदनी से ये सब वृत्तियाँ दी जायँगी, तो ऋण का सूद निकलना भी कठिन होगा। मूल का तो कहना ही क्या? क्या आय में वृद्धि नहीं हो सकती? अभी अस्तबल में बीस घोड़े हैं। मेरे

लिये एक काफ़ी है । नौकरों की संख्या सौ से कम न होगी । मेरे लिये दो भी अधिक हैं । यह अनुचित है कि अपने ही भाइयों से नीच सेवाएँ कराई जायँ । उन मनुष्यों को मैं अपनी सीर की ज़मीन दे दूँगा । सुख से खेती करेंगे, और मुझे आशीर्वाद देंगे । बग़ीचों के फल अब तक डालियों के भेंट हो जाते थे । अब उन्हें बेचूँगा । और, सबसे बड़ी आमदनी तो बयाई की है । केवल महेशगंज के बाज़ार से दस हज़ार रुपए आते हैं । यह सब आमदनी महंतजी उड़ा जाते हैं । उनके लिये एक हज़ार रुपए साल होना चाहिए । अब की इस बाज़ार का ठेका दूँगा । आठ हज़ार से कम न मिलेंगे । इन मदों से २५ हज़ार रुपए की वार्षिक आय होगी । सावित्री और लल्ला (लड़के) के लिये एक हज़ार रुपया माहवार काफ़ी है । मैं सावित्री से स्पष्ट कह दूँगा कि या तो एक हज़ार रुपया मासिक लो, और मेरे साथ रहो, या रियासत की आधी आमदनी ले लो, और मुझे छोड़ दो । रानी बनने की इच्छा हो, तो ख़ुशी से बनो, परंतु मैं राजा न बनूँगा ।

अचानक कुँअर साहब के कानों में आवाज़ आई—"रामनाम सत्य है ।" उन्होंने पीछे मुड़कर देखा । कई मनुष्य एक लाश लिए आते थे । उन लोगों ने नदी-किनारे चिता बनाई, और उसमें आग लगा दी । दो स्त्रियाँ चिग्घाड़कर रो रही थीं । इस विलाप का कुँअर साहब के चित्त पर कुछ प्रभाव न पड़ा । वह चित्त में लज्जित हो रहे थे कि मैं कितना पाषाण-हृदय हूँ । एक दीन मनुष्य की लाश जल रही है, स्त्रियाँ रो रही हैं, और मेरा हृदय तनिक भी नहीं पसीजता ! पत्थर की मूर्ति की भाँति खड़ा हूँ ! एकबारगी एक स्त्री ने रोते हुए कहा—"हाय मेरे राजा ! तुम्हें विष कैसे मीठा लगा ?" यह हृदय-विदारक विलाप सुनते ही कुँअर साहब के चित्त में एक घाव-सा लग गया । करुणा सजग हो गई, और नेत्र अश्रु-पूर्ण हो गए । कदाचित् इस दुखिया ने विष-पान करके प्राण दिए हैं । हाय ! उसे विष कैसे मीठा लगा ! इसमें कितनी करुणा है, कितना दुःख,

कितना आश्चर्य ! विष तो कड़ुआ पदार्थ है । वह क्योंकर मीठा हो गया ! कटु विष के बदले जिसने अपने मधुर प्राण दे दिए, उस पर कोई बड़ी मुसीबत पड़ी होगी ! ऐसी ही दशा में विष मधुर हो सकता है । कुँअर साहब तड़प गए । कारुणिक शब्द बार-बार उनके हृदय में गूँजते थे । अब उनसे वहाँ न खड़ा रहा गया । वह उन आदमियों के पास आए, और एक मनुष्य से पूछा—"क्या बहुत दिनों से बीमार थे ?" इस मनुष्य ने कुँअर साहब की ओर आँसू-भरे नेत्रों से देखकर कहा—"नहीं साहब, कहाँ की बीमारी । अभी आज संध्या तक भली भाँति बातें कर रहे थे । मालूम नहीं, संध्या को क्या खा लिया कि ख़ून की क़ै होने लगी । जब तक वैद्यराज के यहाँ जायँ, तब तक आँखें उलट गईं । नाड़ी छूट गई । वैद्यराज ने आकर देखा, तो कहा—'अब क्या हो सकता है ?' अभी कुल बाइस-तेइस वर्ष की अवस्था थी । ऐसा पट्ठा सारे लखनऊ में नहीं था ।"

कुँअर—"कुछ मालूम हुआ, विष क्यों खाया ?"

उस मनुष्य ने संदेह-दृष्टि से देखकर कहा—"महाशय, और तो कोई बात नहीं हुई । जब से यह बड़ा बैंक टूटा है, बहुत उदास रहते थे । कई हज़ार रुपए बैंक में जमा किए थे । घी-दूध-मलाई की बड़ी दूकान थी । बिरादरी में मान था । वह सारी पूँजी डूब गई । हम लोग रोकते रहे कि बैंक में रुपए मत जमा करो, किंतु होनहार यह थी । किसी की नहीं सुनी । आज सबेरे स्त्री से गहने माँगते थे कि गिरवीं रखकर अहीरों को दूध के दाम दे दें । उससे बातों-बातों में झगड़ा हो गया । बस, न-जाने क्या खा लिया ।"

कुँअर साहब का हृदय काँप उठा । तुरंत ध्यान आया—शिवदास तो नहीं है । पूछा—"इनका नाम शिवदास तो नहीं था ?"

उस मनुष्य ने विस्मय से देखकर कहा—"हाँ, यही नाम था । क्या आपसे जान-पहचान थी ?"

कुँअर—"हाँ, हम और यह बहुत दिनों तक बरहल में साथ-साथ

खेले थे। आज शाम को वह हमसे बैंक में मिले थे। यदि उन्होंने मुझ से तनिक भी चर्चा की होती, तो मैं यथाशक्ति उनकी सहायता करता। शोक!''

उस मनुष्य ने अब ध्यान-पूर्वक कुँअर साहब को देखा, और जाकर स्त्रियों से कहा—"चुप हो जाओ। बरहल के महाराजा आए हैं।" इतना सुनते ही शिवदास की माता ज़ोर-ज़ोर से सिर पीटती और रोती हुई आकर कुँअर के पैरों पर गिर पड़ी। उसके मुख से केवल ये शब्द निकले—"बेटा, बचपन में जिसे तुम भैया कहा करते थे × × ×" और गला रुँध गया।

कुँअर महाशय की आँखों से भी अश्रु-पात हो रहा था। शिवदास की मूर्ति उनके सामने खड़ी यह कहती देख पड़ती थी कि तुमने मित्र होकर मेरे प्राण लिए!

(७)

भोर हो गया। परंतु कुँअर साहब को नींद न आई। जब से वह गोमती-तीर से लौटे थे, उनके चित्त पर एक वैराग्य-सा छाया हुआ था। वह कारुणिक दृश्य उनके स्वार्थ के तर्कों को छिन्न-भिन्न किए देता था। सावित्री के विरोध, लल्ला के निराशा-युत हठ, और माता के कुछ शब्दों का अब उन्हें लेश-मात्र भी भय न था। सावित्री कुढ़ेगी, कुढ़े। लल्ला को भी संग्राम के क्षेत्र में कूदना पड़ेगा, कोई चिंता नहीं। माता प्राण देने पर तत्पर होगी, क्या हर्ज है। मैं अपनी स्त्री-पुत्र तथा हित-मित्रादि के लिये सहस्रों परिवारों की हत्या न करूँगा। हाय! शिवदास को जीवित रखने के लिये मैं ऐसी कितनी रियासतें छोड़ सकता हूँ। सावित्री को भूखों रहना पड़े, लल्ला को मज़दूरी करनी पड़े, मुझे द्वार-द्वार भीख माँगना पड़े, तब भी दूसरों का गला न दबाऊँगा। अब विलंब का अवसर नहीं। न-जाने आगे यह दिवाला और क्या-क्या आपत्तियाँ खड़ी करे। मुझे इतना आगा-पीछा क्यों हो रहा है? यह केवल आत्मनिर्बलता है; वरना यह कोई ऐसा बड़ा काम नहीं, जो किसी ने न किया हो। आए दिन लोग लाखों

रुपए दान-पुण्य करते हैं। मुझे अपने कर्तव्य का ज्ञान है। उससे क्यों मुँह मोड़ूँ? जो कुछ हो, जो चाहे सिर पड़े, इसकी क्या चिंता? कुँअर ने घंटी बजाई। एक क्षण में अरदली आँखें मलता हुआ आया।

कुँअर साहब बोले—"अभी जेकब साहब बारिस्टर के पास जाकर मेरा सलाम दो। जाग गए होंगे। कहना, ज़रूरी काम है। नहीं, यह पत्र लेते जाओ। मोटर तैयार करा लो।"

(८)

मिस्टर जेकब ने कुँअर साहब को बहुत समझाया कि आप इस दलदल में न फँसें, नहीं तो निकलना कठिन होगा। मालूम नहीं, अभी कितनी ऐसी रकमें हैं, जिनका आपको पता नहीं है। परंतु चित्त में दृढ़ हो जानेवाला निश्चय चूने का फ़र्श है, जिसे आपत्ति के थपेड़े और भी पुष्ट कर देते हैं। कुँअर साहब अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। दूसरे दिन समाचार-पत्रों में छपवा दिया कि मृत महारानी पर जितना कर्ज़ है, वह हम सकारते हैं, और नियत समय के भीतर चुका देंगे।

इस विज्ञापन के छपते ही लखनऊ में खलबली पड़ गई। बुद्धिमानों की सम्मति में यह कुँअर महाशय की नितांत भूल थी, और जो लोग क़ानून से अनभिज्ञ थे, उन्होंने सोचा, इसमें अवश्य कोई भेद है। ऐसे बहुत कम मनुष्य थे, जिन्हें कुँअर साहब की नीयत की सचाई पर विश्वास आया हो। परंतु कुँअर साहब का बखान चाहे न हुआ हो, आशीर्वाद की कमी न थी। बैंक के हज़ारों गरीब लेनदार सच्चे हृदय से उन्हें आशीर्वाद दे रहे थे।

एक सप्ताह तक कुँअर साहब को सिर उठाने का अवकाश न मिला। मिस्टर जेकब का विचार सत्य सिद्ध हुआ। देना प्रतिदिन बढ़ता जाता था। कितने ही पुरनोट ऐसे मिले, जिनका उन्हें कुछ भी पता न था। जौहरियों और अन्य बड़े-बड़े दूकानदारों का लेना भी कम न था। अंदाज़न् तेरह-चौदह लाख का था। मीज़ान बीस लाख तक जा पहुँचा। कुँअर साहब

घबराए। शंका हुई, ऐसा न हो कि उन्हें भाइयों का गुजारा भी बंद करना पड़े, जिसका उन्हें कोई अधिकार नहीं था। यहाँ तक कि सातवें दिन उन्होंने कई साहूकारों को बुरा-भला कहकर सामने से दूर किया। जहाँ ब्याज की दर अधिक थी, उसे कम कराया, और जिन रक़मों की मियाद बीत चुकी थी, उनसे इनकार कर दिया। उन्हें साहूकारों की कठोरता पर क्रोध आता था। उनके विचार में महाजनों को डूबते धन का एक भाग पाकर ही संतोष कर लेना चाहिए था। इतनी खींच-तान करने पर भी कुल देना उन्नीस लाख से कम न हुआ।

कुँअर साहब इन कामों से अवकाश पाकर एक दिन नेशनल बैंक की ओर जा निकले। बैंक खुला हुआ था। मृतक शरीर में प्राण आ गए थे। लेनदारों की भीड़ लगी हुई थी। लोग प्रसन्न चित्त लौटे जा रहे थे। कुँअर साहब को देखते ही सैकड़ों मनुष्य बड़े प्रेम से उनकी ओर दौड़े। किसी ने रोकर, किसी ने पैरों पर गिरकर और किसी ने सभ्यता-पूर्वक अपनी कृतज्ञता प्रकट की। वह बैंक के कार्यकर्ताओं से भी मिले। लोगों ने कहा—इस विज्ञापन ने बैंक को जीवित कर दिया। बंगाली बाबू ने लाला साईंदास की आलोचना की—वह समझता था, संसार में सब मनुष्य भलामानस है। हमको उपदेश करता था। अब उसका आँख खुल गया है! अकेला घर में बैठा रहता है। किसी को मुँह नहीं दिखाता। हम सुनता है, वह यहाँ से भाग जाना चाहता था। परंतु बड़ा साहब बोला, तुम भागेगा, तो तुम्हारा ऊपर वारंट जारी कर देगा।

अब साईंदास की जगह बंगाली बाबू मैनेजर हो गए थे।

इसके बाद कुँअर साहब बरहल आए। भाइयों ने यह वृत्तांत सुना, तो बिगड़े, अदालत की धमकी दी। माताजी को ऐसा धक्का पहुँचा कि वह उसी दिन बीमार होकर और एक ही सप्ताह में इस संसार से बिदा हो गई। सावित्री को भी चोट लगी; पर उसने केवल संतोष ही नहीं किया, पति की उदारता और त्याग की प्रशंसा भी की। रह गए लाल साहब।

उन्होंने जब देखा, अस्तबल से घोड़े निकले जाते हैं, हाथी मकनपुर के मेले में बिकने के लिये भेज दिए गए हैं, और कहार बिदा किए जा रहे हैं, तो व्याकुल हो पिता से बोले—"बाबूजी ! ये सब नौकर, घोड़े, हाथी कहाँ जा रहे हैं ?"

कुँअर—"एक राजा साहब के उत्सव में ।"

लालजी—"कौन-से राजा ?"

कुँअर—"उनका नाम राजा दीनसिंह है ।"

लालजी—"कहाँ रहते हैं ?"

कुँअर – "दरिद्रपुर ।"

लालजी—"तो हम भी जायँगे ।"

कुँअर—"तुम्हें भी ले चलेंगे । परंतु इस बारात में पैदल चलनेवालों का सम्मान सवारों से अधिक होगा ।"

लालजी—"तो हम भी पैदल चलेंगे ।"

कुँअर—"वहाँ परिश्रमी मनुष्य की प्रशंसा होती है ।"

लालजी—"तो हम सबसे ज़्यादा परिश्रम करेंगे ।"

कुँअर साहब के दोनो भाई पाँच-पाँच हज़ार रुपए का गुज़ारा लेकर अलग हो गए । कुँअर साहब अपने और परिवार के लिये कठिनाई से एक हज़ार सालाना का प्रबंध कर सके, पर यह आमदनी एक रईस के लिये किसी तरह पर्याप्त नहीं थी । अतिथि-अभ्यागत प्रतिदिन टिके ही रहते थे । उन सबका भी सत्कार करना पड़ता था । बड़ी कठिनाई से निर्वाह होता था । इधर एक वर्ष से शिवदास के कुटुंब का भार भी सिर पर आ पड़ा । परंतु कुँअर साहब कभी अपने निश्चय पर शोक नहीं करते । उन्हें कभी किसी ने चिंतित नहीं देखा । उनका मुख-मंडल धैर्य और सच्चे अभिमान से सदैव प्रकाशित रहता है । साहित्य-प्रेम पहले से था । अब बाग़बानी से प्रेम हो गया है । अपने बाग़ में प्रातःकाल से शाम तक पौदों की देख-रेख किया करते हैं । और, लाल साहब तो

पक्के कृषक होते दिखाई देते हैं। अभी नव-दस वर्ष से अधिक अवस्था नहीं है; लेकिन अँधेरे-मुँह खेतों में पहुँच जाते हैं। खाने-पीने की सुध नहीं रहती।

उनका घोड़ा मौजूद है। परंतु महीनों उस पर नहीं चढ़ते। उनकी यह धुन देखकर कुँअर साहब बहुत प्रसन्न रहते और कहा करते हैं—"मैं रियासत के भविष्य की ओर से निश्चिंत हूँ। लाल साहब कभी इस पाठ को न भूलेंगे। घर में संपत्ति होती, तो सुख-भोग, शिकार और दुराचार के सिवा और क्या सूझता! संपत्ति बेचकर हमने परिश्रम और संतोष ख़रीदा, और यह सौदा बुरा नहीं।" सावित्री इतनी संतोषी नहीं। वह कुँअर साहब के रोकने पर भी असामियों से छोटी-मोटी भेंट ले लिया करती है, और कुल-प्रथा नहीं तोड़ना चाहती।

आत्माराम

(१)

वेदों-ग्राम में महादेव सोनार एक सुविख्यात आदमी था। वह अपने सायबान में प्रातः से संध्या तक अँगीठी के सामने बैठा हुआ खट-खट किया करता था। यह लगातार ध्वनि सुनने के लोग इतने अभ्यस्त हो गए थे कि जब किसी कारण से वह बंद हो जाती, तो जान पड़ता था, कोई चीज़ ग़ायब हो गई है। वह नित्यप्रति एक बार प्रातःकाल अपने तोते का पिंजड़ा लिए, कोई भजन गाता हुआ तालाब की ओर जाता था। उस धुँधले प्रकाश में उसका जर्जर शरीर, पोपला मुँह और झुकी हुई कमर देखकर किसी अपरिचित मनुष्य को उसके पिशाच होने का भ्रम हो सकता था। ज्यों ही लोगों के कानों में आवाज़ आती—"सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता", लोग समझ जाते कि भोर हो गया।

महादेव का पारिवारिक जीवन सुखमय न था। उसके तीन पुत्र थे, तीन बहुएँ थीं, दर्जनों नाती-पोते थे; लेकिन उसके बोझ को हल्का करनेवाला कोई न था। लड़के कहते—"जब तक दादा जीते हैं, हम जीवन का आनंद भोग लें, फिर तो यह ढोल गले पड़ेगा ही।" बेचारे महादेव को कभी-कभी निराहार ही रहना पड़ता। भोजन के समय उसके घर में साम्यवाद का ऐसा गगन-भेदी निर्घोष होता कि वह भूखा ही उठ आता, और नारियल का हुक्का पीता हुआ सो जाता। उसका व्यावसायिक जीवन और भी अशांतिकारक था। यद्यपि वह अपने काम में निपुण था, उसकी खराई औरों से कहीं ज़्यादा शुद्धकारक और उसकी रासायनिक क्रियाएँ कहीं ज़्यादा कष्टसाध्य थीं, तथापि उसे आएदिन शक्की और धैर्य-शून्य प्राणियों के अपशब्द सुनने पड़ते थे।

पर महादेव अविचलित गांभीर्य से सिर झुकाए सब कुछ सुना करता। ज्यों ही यह कलह शांत होता, वह अपने तोते की ओर देखकर पुकार उठता—"सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।" इस मंत्र के जपते ही उसके चित्त को पूर्ण शांति प्राप्त हो जाती थी।

(२)

एक दिन संयोग-वश किसी लड़के ने पिंजड़े का द्वार खोल दिया। तोता उड़ गया। महादेव ने सिर उठाकर जो पिंजड़े की ओर देखा, तो उसका कलेजा सन्न से हो गया। तोता कहाँ गया! उसने फिर पिंजड़े को देखा, तोता गायब था। महादेव घबराकर उठा, और इधर-उधर खपरैलों पर निगाह दौड़ाने लगा। उसे संसार में कोई वस्तु अगर प्यारी थी, तो वह यही तोता। लड़के-बालों, नाती-पोतों से उसका जी भर गया था। लड़कों की चुलबुल से उसके काम में विघ्न पड़ता था। बेटों से उसे प्रेम न था; इसलिये नहीं कि वे निकम्मे थे, वल्कि इसलिये कि उनके कारण वह अपने आनंददायी कुल्हड़ों की नियमित संख्या से वंचित रह जाता था। पड़ोसियों से उसे चिढ़ थी, इसलिये कि वह उसकी अँगीठी से आग निकाल ले जाते थे। इन समस्त विघ्न-बाधाओं से उसके लिये कोई पनाह थी, तो वह यही तोता। इससे उसे किसी प्रकार का कष्ट न होता था। वह अब उस अवस्था में था, जब मनुष्य को शांति-भोग के सिवा और कोई इच्छा नहीं रहती।

तोता एक खपरैल पर बैठा था। महादेव ने पिंजड़ा उतार लिया, और उसे दिखाकर कहने लगा—"आ, आ, सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।" लेकिन गाँव और घर के लड़के एकत्र होकर चिल्लाने और तालियाँ बजाने लगे। ऊपर से कौओं ने काँव-काँव की रट लगाई। तोता उड़ा, और गाँव से बाहर निकलकर एक पेड़ पर जा बैठा। महादेव ख़ाली पिंजड़ा लिए उसके पीछे दौड़ा, सो दौड़ा। लोगों को उसकी

द्रुतगामिता पर अचंभा हो रहा था। मोह की इससे सुंदर, इससे सजीव, इससे भावमय कल्पना नहीं की जा सकती।

दोपहर हो गई थी। किसान लोग खेतों से चले आ रहे थे। उन्हें विनोद का अच्छा अवसर मिला। महादेव को चिढ़ाने में सभी को मज़ा आता था। किसी ने कंकड़ फेंके, किसी ने तालियाँ बजाईं; तोता फिर उड़ा, और वहाँ से दूर आम के बाग़ में एक पेड़ की फुनगी पर जा बैठा। महादेव फिर ख़ाली पिंजड़ा लिए, मेढक की भाँति उचकता चला। बाग़ में पहुँचा, तो पैर के तलुओं से आग निकल रही थी, सिर चक्कर खा रहा था। जब ज़रा सावधान हुआ, तो फिर पिंजड़ा उठाकर कहने लगा—"सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।" तोता फुनगी से उतरकर नीचे की एक डाल पर आ बैठा; किंतु महादेव की ओर सशंक नेत्रों से ताक रहा था। महादेव ने समझा, डर रहा है। वह पिंजड़े को छोड़कर आप एक दूसरे पेड़ की आड़ में छिप गया। तोते ने चारो ओर ग़ौर से देखा। निश्शंक हो गया, उतरा, और आकर पिंजड़े के ऊपर बैठ गया। महादेव का हृदय उछलने लगा। "सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता" का मंत्र जपता हुआ, धीरे-धीरे, तोते के समीप आया, और लपका कि तोते को पकड़ लें; किंतु तोता हाथ न आया, फिर पेड़ पर जा बैठा।

शाम तक यही हाल रहा। तोता कभी इस डाल पर जाता, कभी उस डाल पर। कभी पिंजड़े पर आ बैठता, कभी पिंजड़े के द्वार पर बैठ अपने दाना-पानी की प्यालियों को देखता, और फिर उड़ जाता। बुड्ढा अगर मूर्तिमान् मोह था, तो तोता मूर्तिमती माया। यहाँ तक कि शाम हो गई। माया और मोह का यह संग्राम अंधकार में विलीन हो गया।

(३)

रात हो गई। चारो ओर निविड़ अंधकार छा गया। तोता न-जाने पत्तों में कहाँ छिपा बैठा था। महादेव जानता था कि रात को तोता कहीं उड़कर नहीं जा सकता, और न पिंजड़े में ही आ सकता है; फिर भी

वह उस जगह से हिलने का नाम न लेता था। आज उसने दिन-भर कुछ नहीं खाया, रात के भोजन का समय भी निकल गया, पानी की एक बूँद भी उसके कंठ में न गई; लेकिन उसे न भूख थी, न प्यास। तोते के बिना उसे अपना जीवन निस्सार, शुष्क और सूना जान पड़ता था। वह दिन-रात काम करता था, इसलिये कि यह उसकी अंतःप्रेरणा थी, जीवन के और काम इसलिये करता था कि आदत थी। इन कामों में उसे अपनी सजीवता का लेश-मात्र भी ज्ञान न होता था। तोता ही वह वस्तु था, जो उस चेतना की याद दिलाता था। उसका हाथ से जाना जीव का देह-त्याग करना था।

महादेव दिन-भर का भूखा-प्यासा, थका-माँदा रह-रहकर झपकियाँ ले लेता था; किंतु एक क्षण में फिर चौंककर आँखें खोल देता और उस विस्तृत अंधकार में उसकी आवाज़ सुनाई देती—"सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।"

आधी रात गुज़र गई थी। सहसा वह कोई आहट पाकर चौंका। देखा, एक दूसरे वृक्ष के नीचे एक धुँधला दीपक जल रहा है, और कई आदमी बैठे हुए आपस में कुछ बातें कर रहे हैं। वे सब चिलम पी रहे थे। तमाखू की महक ने उसे अधीर कर दिया। उच्च स्वर से बोला—"सत्त गुरुदत्त शिवदत्तदाता", और उन आदमियों की ओर चिलम पीने चला; किंतु जिस प्रकार बंदूक़ की आवाज़ सुनते ही हिरन भाग जाते हैं, उसी प्रकार उसे आते देख वे सब-के-सब उठकर भागे। कोई इधर गया, कोई उधर। महादेव चिल्लाने लगा—"ठहरो-ठहरो!" एकाएक उसे ध्यान आ गया, ये सब चोर हैं। वह ज़ोर से चिल्ला उठा—"चोर-चोर, पकड़ो-पकड़ो!" चोरों ने पीछे फिरकर भी न देखा।

महादेव दीपक के पास गया, तो उसे एक कलसा रक्खा हुआ मिला; मोरचे से काला हो रहा था। महादेव का हृदय उछलने लगा। उसने कलसे में हाथ डाला, तो मोहरें थीं। उसने एक मोहर बाहर निकाली,

और दीपक के उजाले में देखा ; हाँ, मोहर थी। उसने तुरंत कलसा उठा लिया, दीपक बुझा दिया, और पेड़ के नीचे छिपकर बैठ रहा। साह से चोर बन गया।

उसे फिर शंका हुई, ऐसा न हो, चोर लौट आवें, और मुझे अकेला देखकर मोहरें छीन लें। उसने कुछ मोहरें कमर में बाँधीं, फिर एक सूखी लकड़ी से ज़मीन की मिट्टी हटाकर कई गड्ढे बनाए, उन्हें मोहरों से भरकर मिट्टी से ढक दिया।

(४)

महादेव के अंतर्नेत्रों के सामने अब दूसरा ही जगत् था—चिंताओं और कल्पनाओं से परिपूर्ण। यद्यपि अभी कोष के हाथ से निकल जाने का भय था ; पर अभिलाषाओं ने अपना काम शुरू कर दिया। एक पक्का मकान बन गया, सराफ़े की एक भारी दूकान खुल गई, निज संबंधियों से फिर नाता जुड़ गया, विलास की सामग्रियाँ एकत्र हो गईं। तब तीर्थ-यात्रा करने चले, और वहाँ से लौटकर बड़े समारोह से यज्ञ, ब्रह्मभोज हुआ। इसके पश्चात् एक शिवालय और कुआँ बन गया, एक बाग़ भी लग गया, और वहाँ वह नित्यप्रति कथा-पुराण सुनने लगा। साधु-संतों का आदर-सत्कार होने लगा।

अकस्मात् उसे ध्यान आया, कहीं चोर आ जायँ, तो मैं भागूँगा क्योंकर ? उसने परीक्षा करने के लिये कलसा उठाया, और दो सौ पग तक बेतहाशा भागा हुआ चला गया। जान पड़ता था, उसके पैरों में पर लग गए हैं। चिंता शांत हो गई। इन्हीं कल्पनाओं में रात व्यतीत हो गई। ऊषा का आगमन हुआ, हवा जगी, चिड़ियाँ गाने लगीं। सहसा महादेव के कानों में आवाज़ आई —

"सत्त गुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरन में चित्त लागा।"

यह बोल सदैव महादेव की जिह्वा पर रहता था। दिन में सहस्रों ही

बार ये शब्द उसके मुख से निकलते थे; पर उनका धार्मिक भाव कभी उसके अंतःकरण को स्पर्श न करता था। जैसे किसी बाजे से राग निकलता है, उसी प्रकार उसके मुँह से यह बोल निकलता था, निरर्थक और प्रभाव-शून्य। तब उसका हृदयरूपी वृक्ष पत्र-पल्लव-विहीन था। यह निर्मल वायु उसे गुंजारित न कर सकती थी। पर अब उस वृक्ष में कोपलें और शाखाएँ निकल आई थीं; इस वायु-प्रवाह से झूम उठा; गुंजित हो गया।

अरुणोदय का समय था। प्रकृति एक अनुरागमय प्रकाश में डूबी हुई थी। उसी समय तोता परों को जोड़े हुए ऊँची डाली से उतरा, जैसे आकाश से कोई तारा टूटे, और आकर पिंजड़े में बैठ गया। महादेव प्रफुल्लित होकर दौड़ा, और पिंजड़े को उठाकर बोला—"आओ आत्माराम, तुमने कष्ट तो बहुत दिया; पर मेरा जीवन भी सफल कर दिया। अब तुम्हें चाँदी के पिंजड़े में रक्खूँगा, और सोने से मढ़ दूँगा।" उसके रोम-रोम से परमात्मा के गुणानुवाद की ध्वनि निकलने लगी—प्रभु, तुम कितने दयावान् हो! यह तुम्हारा असीम वात्सल्य है, नहीं तो मुझ-जैसा पापी, पतित प्राणी कब इस कृपा के योग्य था! इन पवित्र भावों से उसकी आत्मा विह्वल हो गई। वह अनुरक्त होकर कह उठा—

"सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरन में चित्त लागा।"

उसने एक हाथ में पिंजड़ा लटकाया, बग़ल में कलसा दबाया, और घर चला।

(५)

महादेव घर पहुँचा, तो अभी कुछ अँधेरा था। रास्ते में एक कुत्ते के सिवा और किसी से भेंट न हुई, और कुत्ते को मोहरों से विशेष प्रेम नहीं होता। उसने कलसे को एक नाँद में छिपा दिया, और उसे कोयले से अच्छी तरह ढककर अपनी कोठरी में रख आया। जब दिन निकल आया, तो वह सीधे पुरोहितजी के घर पहुँचा। पुरोहितजी पूजा पर बैठे सोच

रहे थे—कल ही मुक़दमे की पेशी है, और अभी तक हाथ में कौड़ी भी नहीं। जजमानों में कोई साँस भी नहीं लेता—इतने में महादेव ने पालागन की। पंडितजी ने मुँह फेर लिया। यह अमंगल मूर्ति कहाँ से आ पहुँची, मालूम नहीं, दाना भी मयस्सर होगा या नहीं। रुष्ट होकर पूछा—"क्या है जी, क्या कहते हो? जानते नहीं, हम इस समय पूजा पर रहते हैं?" महादेव ने कहा—"महाराज, आज मेरे यहाँ सत्यनारायन की कथा है।"

पुरोहितजी विस्मित हो गए। कानों पर विश्वास न हुआ। महादेव के घर कथा का होना उतनी ही असाधारण घटना थी, जितनी अपने घर से किसी भिखारी के लिये भीख निकालना। पूछा—"आज क्या है?"

महादेव बोला—"कुछ नहीं, ऐसे ही इच्छा हुई कि आज भगवान् की कथा सुन लूँ।"

प्रभात ही से तैयारी होने लगी। बेंदो और अन्य निकटवर्ती गाँवों में सुपारी फिरी। कथा के उपरांत भोज का भी नेवता था। जो सुनता, आश्चर्य करता—"यह आज रेत में दूब कैसे जमी!"

संध्या-समय जब सब लोग जमा हो गए, पंडितजी अपने सिंहासन पर विराजमान हुए, तो महादेव खड़ा होकर उच्च स्वर से बोला—"भाइयो, मेरी सारी उम्र छल-कपट में कट गई। मैंने न-जाने कितने आदमियों को दग़ा दी, कितना खरे को खोटा किया, पर अब भगवान् ने मुझ पर दया की है, वह मेरे मुँह की कालिख मिटाना चाहते हैं। मैं आप सभी भाइयों से ललकारकर कहता हूँ कि जिसका मेरे ज़िम्मे जो कुछ निकलता हो, जिसकी जमा मैंने मार ली हो, जिसके चोखे माल को खोटा कर दिया हो, वह आकर अपनी एक-एक कौड़ी चुका ले। अगर कोई यहाँ न आ सका हो, तो आप लोग उससे जाकर कह दीजिए, कल से एक महीने तक जब जी चाहे, आवे, और अपना हिसाब चुकता कर ले। गवाही-साखी का काम नहीं।"

सब लोग सन्नाटे में आ गए। कोई मार्मिक भाव से सिर हिलाकर बोला—"हम कहते न थे!" किसी ने अविश्वास से कहा—"क्या खाकर भरेगा, हज़ारों का टोटल हो जायगा!"

एक ठाकुर ने ठठोली की—"और जो लोग सुरधाम चले गए?"

महादेव ने उत्तर दिया—"उनके घरवाले तो होंगे।"

किंतु इस समय लोगों को वसूली की इतनी इच्छा न थी, जितनी यह जानने की कि इसे इतना धन मिल कहाँ से गया? किसी को महादेव के पास आने का साहस न हुआ। देहात के आदमी थे, गड़े मुर्दे उखाड़ना क्या जानें। फिर प्रायः लोगों को याद भी न था कि उन्हें महादेव से क्या पाना है, और ऐसे पवित्र अवसर पर भूल-चूक हो जाने का भय उनका मुँह बंद किए हुए था। सबसे बड़ी बात यह थी कि महादेव की साधुता ने उन्हें वशीभूत कर लिया था।

अचानक पुरोहितजी बोले—"तुम्हें याद है, मैंने एक कंठा बनाने के लिये सोना दिया था, और तुमने कई माशे तौल में उड़ा दिए थे।"

महादेव—"हाँ, याद है। आपका कितना नुकसान हुआ होगा?"

पुरोहित—"५०) से कम न होगा।"

महादेव ने कमर से दो मोहरें निकालीं, और पुरोहितजी के सामने रख दीं।

पुरोहित की लोलुपता पर टीकाएँ होने लगीं—"यह बेईमानी है, बहुत हो, तो दो-चार रुपए का नुक़सान हुआ होगा। बेचारे से ५०) ऐंठ लिए। नारायण का भी डर नहीं। बनने को पंडित, पर नीयत ऐसी ख़राब! राम-राम!!"

लोगों को महादेव पर एक श्रद्धा-सी हो गई। एक घंटा बीत गया; पर उन सहस्रों मनुष्यों में से एक भी न खड़ा हुआ। तब महादेव ने फिर कहा—"मालूम होता है, आप लोग अपना-अपना हिसाब भूल गए हैं। इसलिये आज कथा होने दीजिए, मैं एक महीने तक आपकी

राह देखूँगा। इसके पीछे तीर्थ-यात्रा करने चला जाऊँगा। आप सब भाइयों से मेरी विनती है कि आप मेरा उद्धार करें।''

एक महीने तक महादेव लेनदारों की राह देखता रहा। रात को चोरों के भय से नींद न आती। अब वह कोई काम न करता। शराब का चसका भी छूटा। साधु-अभ्यागत जो द्वार पर आ जाते, उनका यथायोग्य सत्कार करता। दूर-दूर उसका सुयश फैल गया। यहाँ तक कि महीना पूरा हो गया, और एक आदमी भी हिसाब लेने न आया। अब महादेव को ज्ञात हुआ कि संसार में कितना धर्म, कितना सद्व्यवहार है। अब उसे मालूम हुआ कि संसार बुरों के लिये बुरा है, और अच्छों के लिये अच्छा।

(६)

इस घटना को हुए ५० वर्ष बीत चुके हैं। आप बेंदो जाइए, तो दूर ही से एक सुनहरा कलस दिखाई देता है। यह ठाकुरद्वारे का कलस है। उससे मिला हुआ एक पक्का तालाब है, जिसमें खूब कमल खिले रहते हैं। उसकी मछलियाँ कोई नहीं पकड़ता। तालाब के किनारे एक विशाल समाधि है। यही आत्माराम का स्मृति-चिह्न है। उसके संबंध में विभिन्न किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। कोई कहता है, उसका रत्न-जटित पिंजड़ा स्वर्ग को चला गया। कोई कहता है, वह 'सत्त गुरुदत्त' कहता हुआ अंतर्द्धान हो गया। पर यथार्थ यह है कि उस पक्षी-रूपी चंद्र को किसी बिल्ली-रूपी राहु ने ग्रस लिया। लोग कहते हैं, आधी रात को अभी तक तालाब के किनारे आवाज़ आती है—

"सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरन में चित्त लागा।"

महादेव के विषय में भी कितनी जन-श्रुतियाँ हैं। उनमें सबसे मान्य यह है कि आत्माराम के समाधिस्थ होने के बाद वह कई संन्यासियों के साथ हिमालय चला गया, और वहाँ से लौटकर न आया। उसका नाम आत्माराम प्रसिद्ध हो गया।

दुर्गा का मंदिर

(१)

बाबू ब्रजनाथ क़ानून पढ़ने में मग्न थे, और उनके दोनो बच्चे लड़ाई करने में। श्यामा चिल्लाती कि मुन्नू मेरी गुड़िया नहीं देता। मुन्नू रोता था कि श्यामा ने मेरी मिठाई खा ली।

ब्रजनाथ ने क्रुद्ध होकर भामा से कहा—"तुम इन दुष्टों को यहाँ से हटाती हो कि नहीं? नहीं तो मैं एक-एक की ख़बर लेता हूँ।"

भामा चूल्हे में आग जला रही थी; बोली—"अरे, तो अब क्या संध्या को भी पढ़ते ही रहोगे? ज़रा दम तो ले लो।"

ब्रजनाथ—"उठा तो न जायगा; बैठी-बैठी वहीं से क़ानून बघारोगी! अभी एकआध को पटक दूँगा, तो वहाँ से गरजती हुई आओगी कि हाय-हाय बच्चे को मार डाला!"

भामा—"तो मैं कुछ बैठी या सोई तो नहीं हूँ। ज़रा एक घड़ी तुम्हीं लड़कों को बहलाओगे, तो क्या होगा। कुछ मैंने ही तो उनकी नौकरी नहीं लिखाई!"

ब्रजनाथ से कोई जवाब न देते बन पड़ा। क्रोध पानी के समान बहाव का मार्ग न पाकर और भी प्रबल हो जाता है। यद्यपि ब्रजनाथ नैतिक सिद्धांतों के ज्ञाता थे, पर उनके पालन में इस समय कुशल न दिखाई दी। मुद्दई और मुद्दालेह, दोनो को एक ही लाठी हाँका, और दोनो को रोते-चिल्लाते छोड़, क़ानून का ग्रंथ बग़ल में दबा कॉलेज-पार्क की राह ली।

(२)

सावन का महीना था। आज कई दिन के बाद बादल हटे थे।

हरे-भरे वृक्ष सुनहरी चादरें ओढ़े खड़े थे। मृदु समीर सावन से राग गाती थी, और बगले डालियों पर बैठे हिंडोले झूल रहे थे। व्रजनाथ एक बेंच पर जा बैठे, और किताब खोली; लेकिन इस ग्रंथ की अपेक्षा प्रकृति-ग्रंथ का अवलोकन अधिक चित्ताकर्षक था। कभी आसमान को पढ़ते थे, कभी पत्तियों को, कभी छविमयी हरियाली को और कभी सामने के मैदान में खेलते हुए लड़कों को।

एकाएक उन्हें सामने घास पर काग़ज़ की एक पुड़िया दिखाई दी। माया ने जिज्ञासा की, आड़ में चलो, देखें, इसमें क्या है?

बुद्धि ने कहा, तुमसे मतलब? पड़ी रहने दो।

लेकिन जिज्ञासा-रूपी माया की जीत हुई। व्रजनाथ ने उठकर पुड़िया उठा ली। कदाचित् किसी के पैसे पुड़िया में लिपटे गिर पड़े हैं। खोलकर देखा, सावरेन थे! गिना, पूरे आठ निकले। कुतूहल की सीमा न रही।

व्रजनाथ की छाती धड़कने लगी। आठो सावरेन हाथ में लिए सोचने लगे—इन्हें क्या करूँ? अगर यहीं रख दूँ, तो न-जाने किसकी नज़र पड़े; न-मालूम कौन उठा ले जाय! नहीं, यहाँ रखना उचित नहीं। चलूँ, थाने में इत्तला कर दूँ, और ये सावरेन थानेदार को सौंप दूँ। जिसके होंगे, वह आप ले जायगा। या अगर उसे न भी मिले, तो मुझ पर कोई दोष न रहेगा, मैं तो अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाऊँगा!

माया ने परदे की आड़ से मंत्र मारना शुरू किया। वह थाने नहीं गए; सोचा, चलूँ, भामा से एक दिल्लगी करूँ। भोजन तैयार होगा। कल इतमीनान से थाने जाऊँगा!

भामा ने सावरेन देखे, हृदय में एक गुदगुदी-सी हुई। पूछा—"किसकी हैं?"

व्रजनाथ—"मेरी।"

भामा—"चलो, कहीं हों न।"

ब्रजनाथ—"पड़ी मिली हैं।"

भामा—"झूठी बात। ऐसे ही भाग्य के बली हो, तो सच बताओ, कहाँ मिलीं? किसकी हैं?"

ब्रजनाथ—"सच कहता हूँ, पड़ी मिली हैं।"

भामा—"मेरी क़सम।"

ब्रजनाथ—"तुम्हारी क़सम।"

भामा गिन्नियों को पति के हाथ से छीनने की चेष्टा करने लगी।

ब्रजनाथ ने कहा—"क्यों छीनती हो?"

भामा—"लाओ, मैं अपने पास रख लूँ।"

ब्रजनाथ—"रहने दो, मैं इनकी इत्तिला करने थाने जाता हूँ।"

भामा का मुख मलिन हो गया। बोली—"पड़े हुए धन की क्या इत्तिला?"

ब्रजनाथ—"हाँ, और क्या, इन आठ गिन्नियों के लिये ईमान बिगाड़ूँ न?"

भामा—"अच्छा, तो सबेरे चले जाना। इस समय जाओगे, तो आने में देर होगी।"

ब्रजनाथ ने भी सोचा, यही अच्छा। थानेवाले रात को तो कोई कार्रवाई करेंगे नहीं। जब अशर्फ़ियों को पड़ा ही रहना है, तब जैसे थाना, वैसे मेरा घर।

गिन्नियाँ संदूक में रख दीं। खा-पीकर लेटे, तो भामा ने हँसकर कहा—"आया धन क्यों छोड़ते हो? लाओ, मैं अपने लिये एक गुलूबंद बनवा लूँ, बहुत दिनों से जी तरस रहा है।"

माया ने इस समय हास्य का रूप धारण किया था।

ब्रजनाथ ने तिरस्कार करके कहा—"गुलूबंद की लालसा में गले में फाँसी लगाना चाहती हो क्या?"

(३)

प्रातःकाल व्रजनाथ थाने जाने के लिये तैयार हुए। क़ानून का एक लेक्चर छूट जायगा, कोई हरज नहीं। वह इलाहाबाद की हाईकोर्ट में अनुवादक थे। नौकरी में उन्नति की आशा न देखकर साल-भर से वकालत की तैयारी में मग्न थे। लेकिन अभी कपड़े पहन ही रहे थे कि उनके एक मित्र, मुंशी गोरेलाल, आकर बैठ गए, और अपनी पारिवारिक दुश्चिंताओं की विस्तृत रामकहानी सुनाकर अत्यंत विनीत भाव से बोले—"भाई साहब, इस समय मैं इन झंझटों में ऐसा फँस गया हूँ कि बुद्धि कुछ काम नहीं करती। तुम बड़े आदमी हो। इस समय कुछ सहायता करो। ज़्यादा नहीं, तीस रुपए दे दो। किसी-न-किसी तरह काम चला लूँगा। आज तीस तारीख़ है। कल शाम को तुम्हें रुपए मिल जायँगे।"

व्रजनाथ बड़े आदमी तो न थे, किंतु बड़प्पन की हवा बाँध रक्खी थी। यह मिथ्याभिमानी उनके स्वभाव की एक दुर्बलता थी। केवल अपने वैभव का प्रभाव डालने के लिये ही वह बहुधा मित्रों की छोटी-मोटी आवश्यकताओं पर अपनी वास्तविक आवश्यकताओं को निछावर कर दिया करते थे। लेकिन भामा को इस विषय में उनसे सहानुभूति न थी। इसलिये जब व्रजनाथ पर इस प्रकार का संकट आ पड़ता था, तब थोड़ी देर के लिये, उनकी पारिवारिक शांति अवश्य नष्ट हो जाती थी। उनमें इनकार करने या टालने की हिम्मत न थी।

वह कुछ सकुचते हुए भामा के पास गए, और बोले—"तुम्हारे पास तीस रुपए तो न होंगे? मुंशी गोरेलाल माँग रहे हैं।"

भामा ने रुखाई से कहा—"मेरे पास रुपए नहीं हैं।

व्रजनाथ—"होंगे तो ज़रूर, बहाना करती हो!"

भामा—"अच्छा, बहाना ही सही।"

व्रजनाथ—"तो मैं उनसे क्या कह दूँ?"

भामा—"कह दो, घर में रुपए नहीं हैं। तुमसे न कहते बने, तो मैं परदे की आड़ से कह दूँ।"

ब्रजनाथ—"कहने को तो मैं कह दूँ, लेकिन उन्हें विश्वास न आवेगा। समझेंगे, बहाना कर रहे हैं।"

भामा—"समझेंगे, तो समझा करें।"

ब्रजनाथ—"मुझसे तो ऐसी बेमुरौवती नहीं हो सकती। रात-दिन का साथ ठहरा, कैसे इनकार करूँ?"

भामा—"अच्छा, तो जो मन में आवे, सो करो। मैं एक बार कह चुकी, मेरे पास रुपए नहीं हैं।"

ब्रजनाथ मन में बहुत खिन्न हुए। उन्हें विश्वास था कि भामा के पास रुपए हैं; लेकिन केवल मुझे लज्जित करने के लिये इनकार कर रही है। दुराग्रह ने संकल्प को दृढ़ कर दिया। संदूक से दो गिन्नियाँ निकालीं, और गोरेलाल को देकर बोले—"भाई, कल शाम को कचहरी से आते ही रुपए दे जाना। ये एक आदमी की अमानत हैं। मैं इसी समय देने जा रहा था—यदि कल रुपए न पहुँचे, तो मुझे बहुत लज्जित होना पड़ेगा; कहीं मुँह दिखाने योग्य न रहूँगा।"

गोरेलाल ने मन में कहा—अमानत स्त्री के सिवा और किसकी होगी, और गिन्नियाँ जेब में रखकर घर की राह ली।

(४)

आज पहली तारीख़ की संध्या है। ब्रजनाथ दरवाज़े पर बैठे गोरेलाल का इंतज़ार कर रहे हैं।

पाँच बज गए, गोरेलाल अभी तक नहीं आए। ब्रजनाथ की आँखें रास्ते की तरफ़ लगी हुई थीं। हाथ में एक पत्र था। लेकिन पढ़ने में जी न लगता था। हर तीसरे मिनट रास्ते की ओर देखने लगते थे। लेकिन सोचते थे, आज वेतन मिलने का दिन है। इसी कारण आने में देर हो रही है; आते ही होंगे। छ बजे; गोरेलाल का

पता नहीं। कचहरी के कर्मचारी एक-एक करके चले आ रहे थे। व्रजनाथ को कई बार धोखा हुआ, वह आ रहे हैं। ज़रूर वही हैं। वैसी ही अचकन है। वैसी ही टोपी। चाल भी वही है। हाँ, वही हैं। इसी तरफ़ आ रहे हैं। अपने हृदय से एक बोझा-सा उतरता मालूम हुआ; लेकिन निकट आने पर ज्ञात हुआ कि कोई और है। आशा की कल्पित मूर्ति दुराशा में बदल गई।

व्रजनाथ का चित्त खिन्न होने लगा। वह एक बार कुरसी से उठे। बरामदे की चौखट पर खड़े हो सड़क पर दोनो तरफ़ निगाह दौड़ाई। कहीं पता नहीं।

दो-तीन बार दूर से आते हुए इक्कों को देखकर गोरेलाल का भ्रम हुआ। आकांक्षा की प्रबलता!

सात बजे। चिराग़ जल गए। सड़क पर अँधेरा छाने लगा। व्रजनाथ सड़क पर उद्विग्न भाव से टहलने लगे। इरादा हुआ, गोरेलाल के घर चलूँ। उधर क़दम बढ़ाए। लेकिन हृदय काँप रहा था कि कहीं वह रास्ते में आते हुए न मिल जायँ, तो समझें कि थोड़े-से रुपयों के लिये इतने व्याकुल हो गए। थोड़ी ही दूर गए कि किसी को आते देखा। भ्रम हुआ, गोरेलाल हैं। मुड़े, और सीधे बरामदे में आकर दम लिया। लेकिन फिर वही धोखा! फिर वही भ्रांति! तब सोचने लगे, इतनी देर क्यों हो रही है? क्या अभी तक वह कचहरी से न आए होंगे? ऐसा कदापि नहीं हो सकता। उनके दफ़्तरवाले मुद्दत हुई, निकल गए। बस, दो बातें हो सकती हैं—या तो उन्होंने कल आने का निश्चय कर लिया, समझे होंगे, रात को कौन जाय, या जान-बूझकर बैठ रहे होंगे, देना न चाहते होंगे। उस समय उन्हें ग़रज़ थी, इस समय मुझे ग़रज़ है। मैं ही किसी को क्यों न भेज दूँ? लेकिन किसे भेजूँ! मुन्नू जा सकता है। सड़क ही पर मकान है। यह सोचकर कमरे में गए, लैंप जलाया, और पत्र लिखने बैठे; मगर आँखें द्वार ही की ओर

लगी हुई थीं। अकस्मात् किसी के पैरों की आहट सुनाई दी। तुरंत पत्र को एक किताब के नीचे दबा लिया, और बरामदे में चले आए। देखा, पड़ोस का एक कुँजड़ा तार पढ़ाने आया है। उससे बोले—"भाई, इस समय फ़ुरसत नहीं है; थोड़ी देर में आना।" उसने कहा—"बाबूजी, घर-भर के आदमी घबराए हैं, ज़रा एक निगाह देख लीजिए। निदान ब्रजनाथ ने झुँझलाकर उसके हाथ से तार ले लिया, और सरसरी नज़र से देखकर बोले—"कलकत्ते से आया है; माल नहीं पहुँचा।" कुँजड़े ने डरते-डरते कहा—"बाबूजी, इतना और देख लीजिए कि किसने भेजा है।" इस पर ब्रजनाथ ने तार फेंक दिया, और बोले—"मुझे इस वक़्त फ़ुरसत नहीं है।"

आठ बज गए। ब्रजनाथ को निराशा होने लगी। मुन्नू इतनी रात बीते नहीं जा सकता। मन ने निश्चय किया, आप ही जाना चाहिए; बला से बुरा मानेंगे। इसकी कहाँ तक चिंता करूँ? स्पष्ट कह दूँगा, मेरे रुपए दे दो। भलमंसी भलेमानसों से निभाई जा सकती है। ऐसे धूर्तों के साथ भलमंसी का व्यवहार करना मूर्खता है। अचकन पहनी, घर में जाकर भामा से कहा—"ज़रा एक काम से बाहर जाता हूँ किवाड़े बंद कर लो।"

चलने को तो चले, लेकिन पग-पग पर रुकते जाते थे। गोरेलाल का घर दूर से दिखाई दिया, लैंप जल रहा था। ठिठक गए, और सोचने लगे, चलकर क्या कहूँगा। कहीं उन्होंने जाते-जाते रुपए निकालकर दे दिए, और देर के लिये क्षमा माँगी, तो मुझे बड़ी झेंप होगी। वह मुझे क्षुद्र, ओछा, धैर्य-हीन समझेंगे। नहीं, रुपयों की बातचीत करूँ ही क्यों? कहूँगा, भाई, घर में बड़ी देर से पेट दर्द कर रहा है। तुम्हारे पास पुराना, तेज़ सिरका तो नहीं है? मगर नहीं, यह बहाना कुछ भद्दा-सा प्रतीत होता है, साफ़ क़लई खुल जायगी। उँह! इस झंझट की ज़रूरत ही क्या है। वह मुझे देखकर

आप ही समझ जायँगे ; इस विषय में बातचीत की कुछ नौबत ही न आवेगी। व्रजनाथ इसी उधेड़-बुन में आगे बढ़ते चले जाते थे, जैसे नदी की लहरें चाहे किसी ओर चलें, धारा अपना मार्ग नहीं छोड़ती।

गोरेलाल का घर आ गया। द्वार बंद था। व्रजनाथ को उन्हें पुकारने का साहस न हुआ। समझे, खाना खा रहे होंगे। दरवाज़े के सामने से निकले, और धीरे-धीरे टहलते हुए एक मील तक चले गए। ९ बजने की आवाज़ कान में आई। गोरेलाल भोजन कर चुके होंगे यह सोचकर लौट पड़े ; लेकिन द्वार पर पहुँचे, तो अँधेरा था। वह आशा-रूपी दीपक बुझ गया था। एक मिनट तक दुविधा में खड़े रहे। क्या पुकारूँ ? हाँ, अभी बहुत सबेरा है। इतनी जल्दी थोड़े ही सो गए होंगे। दबे पाँव बरामदे पर चढ़े। द्वार पर कान लगाकर सुना। चारों ओर ताक रहे थे कि कहीं कोई देख न ले। कुछ बातचीत की भनक कान में पड़ी। ध्यान से सुना। स्त्री कह रही थी—"रुपए तो सब उठ गए, व्रजनाथ को कहाँ से दोगे ?"

गोरेलाल ने उत्तर दिया—"ऐसी कौन-सी उतावली है, फिर दे देंगे। आज दरख़्वास्त दे दी है। कल मंज़ूर ही हो जायगी। तीन महीने के बाद लौटेंगे, तब देखा जायगा।"

व्रजनाथ को ऐसा जान पड़ा, मानो मुँह पर किसी ने तमाचा मार दिया। क्रोध और नैराश्य से भरे हुए बरामदे से उतर आए। घर चले, तो सीधे क़दम न पड़ते थे, जैसे कोई दिन-भर का थका-माँदा पथिक हो।

(५)

व्रजनाथ रात-भर करवटें बदलते रहे। कभी गोरेलाल की धूर्तता पर क्रोध आता था, कभी अपनी सरलता पर। मालूम नहीं, किस ग़रीब के रुपए हैं ! उस पर क्या बीती होगी ! लेकिन अब क्रोध या खेद से क्या लाभ ? सोचने लगे, रुपए कहाँ से आवेंगे। भामा पहले ही इनकार

कर चुकी है ; वेतन में इतनी गुंजायश नहीं। दस-पांच रुपए की बात होती, तो कोई कतर-ब्योंत करता। तो क्या करूँ ? किसी से उधार लूँ ? मगर मुझे कौन देगा ? आज तक किसी से माँगने का संयोग नहीं पड़ा, और अपना कोई ऐसा मित्र है भी तो नहीं ! जो लोग हैं, वे मुझी को सताया करते हैं ; मुझे क्या देंगे। हाँ, यदि कुछ दिन क़ानून छोड़कर अनुवाद करने में परिश्रम करूँ, तो रुपए मिल सकते हैं। कम-से-कम एक मास का कठिन परिश्रम है। सस्ते अनुवादकों के मारे दर भी तो गिर गई है। हा निर्दयी ! तूने बड़ी दगा की। न-जाने किस जन्म का वैर चुकाया। कहीं का न रक्खा !

दूसरे दिन से व्रजनाथ को रुपयों की धुन सवार हुई। सबेरे क़ानून के लेक्चर में सम्मिलित होते, संध्या को कचहरी से तजवीज़ों का पुलिंदा घर लाते, और आधी रात तक अनुवाद किया करते। सिर उठाने की मुहलत न मिलती। कभी एक-दो भी बज जाते। जब मस्तिष्क बिलकुल शिथिल हो जाता, तब विवश होकर चारपाई पर पड़ रहते।

लेकिन इतने परिश्रम का अभ्यास न होने के कारण कभी-कभी सिर में दर्द होने लगता। कभी पाचन-क्रिया में विघ्न पड़ जाता, कभी ज्वर चढ़ आता। तिस पर भी वह मशीन की तरह काम में लगे रहते। भामा कभी-कभी झुँझलाकर कहती—"अजी, लेट भी रहो; बड़े धर्मात्मा बने हो। तुम्हारे-जैसे दस-पाँच आदमी और होते, तो संसार का काम ही बंद हो जाता।" व्रजनाथ इस बाधाकारी व्यंग्य का उत्तर न देते। दिन निकलते ही फिर वही चरखा ले बैठते। यहाँ तक कि तीन सप्ताह बीत गए, और २५) हाथ आ गए। व्रजनाथ सोचते थे, दो-तीन दिन में बेड़ा पार है। लेकिन इक्कीसवें दिन उन्हें प्रचंड ज्वर चढ़ आया, और तीन दिन तक न उतरा। छुट्टी लेनी पड़ी। शय्या-सेवी बन गए। भादों का महीना था। भामा ने समझा, पित्त का प्रकोप है। लेकिन जब एक सप्ताह तक डॉक्टर की ओषधि-सेवन करने पर भी ज्वर न उतरा, तब वह घबराई। व्रज-

नाथ प्रायः ज्वर में बक-झक भी करने लगते। भामा सुनकर डर के मारे कमरे से भाग जाती। बच्चों को पकड़कर दूसरे कमरे में बंद कर देती। अब उसे शंका होने लगती थी, कहीं यह कष्ट उन्हीं रुपयों के कारण तो नहीं भोगना पड़ रहा है। कौन जाने, रुपएवाले ने कुछ कर-धर दिया हो! ज़रूर यही बात है; नहीं तो औषधि से लाभ क्यों नहीं होता?

संकट पड़ने पर हम धर्म-भीरु हो जाते हैं, औषधियों से निराश होकर देवतों की शरण लेते हैं। भामा ने भी देवतों की शरण ली। वह जन्माष्टमी, शिवरात्रि और तीज के सिवा और कोई व्रत न रखती थी। इस बार उसने नवरात्र का कठिन व्रत शुरू किया।

आठ दिन पूरे हो गए। अंतिम दिन आया। प्रभात का समय था। भामा ने व्रजनाथ को दवा पिलाई, और दोनो बालकों को लेकर दुर्गाजी की पूजा करने मंदिर चली। उसका हृदय आराध्य देवी के प्रति श्रद्धा से परिपूर्ण था। मंदिर के आँगन में पहुँची। उपासक आसनों पर बैठे हुए दुर्गा-पाठ कर रहे थे। धूप और अगर की सुगंध उड़ रही थी। उसने मंदिर में प्रवेश किया। सामने दुर्गा की विशाल प्रतिमा शोभायमान थी। उसके मुखारविंद पर एक विलक्षण दीप्ति झलक रही थी। बड़े, उज्ज्वल नेत्रों से प्रभा की किरणें छिटक रही थीं। पवित्रता का एक समा-सा छाया हुआ था। भामा इस दीप्ति-पूर्ण मूर्ति के सम्मुख सीधी आँखों से ताक न सकी। उसके अंतःकरण में एक निर्मल, विशुद्ध, भाव-पूर्ण भय का उदय हो आया। उसने आँखें बंद कर लीं। घुटनों के बल बैठ गई, और हाथ जोड़कर करुण स्वर से बोली—"माता, मुझ पर दया करो।"

उसे ऐसा ज्ञात हुआ, मानो देवी मुस्किराईं। उसे उन दिव्य नेत्रों से एक ज्योति-सी निकलकर अपने हृदय में आती हुई मालूम हुई। उसके कानों में देवी के मुँह से निकले ये शब्द सुनाई दिए—"पराया धन लौटा दे, तेरा भला होगा।"

भामा उठ बैठी। उसकी आँखों में निर्मल भक्ति का आभास झलक

रहा था। मुख-मंडल से पवित्र प्रेम बरसा पड़ता था। देवी ने कदाचित् उसे अपनी प्रभा के रंग में डुबा दिया था।

इतने में दूसरी एक स्त्री आई। उसके उज्ज्वल केश बिखरे और मुरझाए हुए चेहरे के दोनो ओर लटक रहे थे। शरीर पर केवल एक श्वेत साड़ी थी। हाथ में चूड़ियों के सिवा और कोई आभूषण न था। शोक और नैराश्य की साक्षात् मूर्ति मालूम होती थी। उसने भी देवी के सामने सिर झुकाया, और दोनो हाथों से आँचल फैलाकर बोली—"देवी! जिसने मेरा धन लिया हो, उसका सर्वनाश करो।"

जैसे सितार मिजराब की चोट खाकर थरथरा उठता है, उसी प्रकार भामा का हृदय अनिष्ट के भय से थरथरा उठा। ये शब्द तीव्र शर के समान उसके कलेजे में चुभ गए। उसने देवी की ओर कातर नेत्रों से देखा। उनका ज्योतिर्मय स्वरूप भयंकर था; नेत्रों से भीषण ज्वाला निकल रही थी। भामा के अंतःकरण में सर्वत्र आकाश से, मंदिर के सामनेवाले वृक्षों से, मंदिर के स्तंभों से, सिंहासन के ऊपर जलते हुए दीपक से और देवी के विकराल मुँह से ये शब्द निकलकर गूँजने लगे—"पराया धन लौटा दे, नहीं तेरा सर्वनाश हो जायगा।"

भामा खड़ी हो गई, और उस वृद्धा से बोली—"क्यों माता, तुम्हारा धन किसी ने ले लिया है?"

वृद्धा ने इस प्रकार उसकी ओर देखा, मानो डूबते को तिनके का सहारा मिला। बोली—"हाँ बेटी।"

भामा—"कितने दिन हुए?"

वृद्धा—"कोई डेढ़ महीना।"

भामा—"कितने रुपए थे?"

वृद्धा—"पूरे एक सौ बीस।"

भामा—"कैसे खोए?"

वृद्धा—"क्या जाने कहाँ गिर गए। मेरे स्वामी पल्टन में नौकर थे। आज कई बरस हुए, वह परलोक सिधारे। अब मुझे सरकार से ६०) साल पेंशन मिलती है। अब की दो साल की पेंशन एक साथ ही मिली थी। खज़ाने से रुपए लेकर आ रही थी, मालूम नहीं, कब और कहाँ गिर पड़े। आठ गिन्नियाँ थीं।"

भामा—"अगर वे तुम्हें मिल जायँ, तो क्या दोगी?"

वृद्धा—"अधिक नहीं, उसमें से १०) दे दूँगी।"

भामा—"रुपए क्या होंगे, कोई उससे अच्छी चीज़ दो।"

वृद्धा—"बेटी, और क्या दूँ, जब तक जिऊँगी, तुम्हारा यश गाऊँगी।"

भामा—"नहीं, मुझे आवश्यकता नहीं।"

वृद्धा—"बेटी, इसके सिवा मेरे पास क्या है?"

भामा—"मुझे आशीर्वाद दो। मेरे पति बीमार हैं, वह अच्छे हो जायँ।"

वृद्धा—"क्या उन्हीं को रुपए मिले हैं?"

भामा—"हाँ, वह उसी दिन से तुम्हें खोज रहे हैं।"

वृद्धा घुटनों के बल बैठ गई, और आँचल फैलाकर, कंपित स्वर से, बोली—"देवी! इनका कल्याण करो।"

भामा ने फिर देवी की ओर सशंक दृष्टि से देखा। उनके दिव्य रूप पर प्रेम का प्रकाश था। आँखों में दया की आनंददायिनी झलक थी। उस समय भामा के अंतःकरण में कहीं स्वर्गलोक से यह ध्वनि सुनाई दी—"जा, तेरा कल्याण होगा।"

(६)

संध्या का समय है। भामा व्रजनाथ के साथ इक्के पर बैठ तुलसी के घर उसकी थाती लौटाने जा रही है। व्रजनाथ के बड़े परिश्रम की कमाई तो डॉक्टर की भेंट हो चुकी है, लेकिन भामा ने एक पड़ोसी के

हाथ अपने कानों के झुमके बेचकर रुपए जुटाए हैं। जिस समय झुमके बनकर आए थे, भामा बहुत प्रसन्न हुई थी। आज उन्हें बेचकर वह उससे भी अधिक प्रसन्न है।

जब ब्रजनाथ ने आठो गिन्नियाँ उसे दिखाई थीं, उसके हृदय में एक गुदगुदी-सी हुई थी। लेकिन यह हर्ष मुख पर आने का साहस न कर सका था। आज उन गिन्नियों के हाथ से जाते समय उसका हार्दिक आनंद आँखों में चमक रहा है, ओठों पर नाच रहा है, कपोलों को रँग रहा और अंगों पर किलोल कर रहा है ; वह इंद्रियों का आनंद था, यह आत्मा का आनंद है; वह आनंद लज्जा के भीतर छिपा हुआ था, यह आनंद गर्व से बाहर निकला पड़ता है।

तुलसी का आशीर्वाद सफल हुआ। आज पूरे तीन सप्ताह के बाद ब्रजनाथ तकिए के सहारे बैठे थे। वह बार-बार भामा को प्रेम-पूर्ण नेत्रों से देखते थे। वह आज उन्हें देवी मालूम होती थी अब तक उन्होंने उसके बाह्य सौंदर्य की शोभा देखी थी, आज वह उसका आत्मिक सौंदर्य देख रहे हैं।

तुलसी का घर एक गली में था। इक्का सड़क पर जाकर ठहर गया। ब्रजनाथ इक्के पर से उतरे, और अपनी छड़ी टेकते हुए, भामा के हाथों के सहारे, तुलसी के घर पहुँचे। तुलसी ने रुपए लिए, और दोनो हाथ फैलाकर आशीर्वाद दिया—"दुर्गाजी तुम्हारा कल्याण करें !"

तुलसी का वर्ण-हीन मुख वैसे ही खिल गया, जैसे वर्षा के पीछे वृक्षों की पत्तियाँ खिल जाती हैं। सिमटा हुआ अंग फैल गया, गालों की झुर्रियाँ मिटती देख पड़ीं। ऐसा मालूम होता था, मानो उसका कायाकल्प हो गया।

वहाँ से आकर ब्रजनाथ अपने द्वार पर बैठे हुए थे कि गोरेलाल आकर बैठ गए। ब्रजनाथ ने मुँह फेर लिया।

गोरेलाल बोले—"भाई साहब, कैसी तबीयत है ?"

व्रजनाथ—"बहुत अच्छी तरह हूँ।"

गोरेलाल—"मुझे क्षमा कीजिएगा। मुझे इसका बहुत खेद है कि आपके रुपए देने में इतना विलंब हुआ। पहली तारीख़ ही को घर से एक आवश्यक पत्र आ गया, और मैं किसी तरह तीन महीने की छुट्टी लेकर घर भागा। वहाँ की विपत्ति-कथा कहूँ, तो समाप्त न हो। लेकिन आपकी बीमारी का शोक-समाचार सुनकर आज भागा चला आ रहा हूँ। ये रुपए लीजिए, हाज़िर हैं। इस विलंब के लिये अत्यंत लज्जित हूँ।"

व्रजनाथ का क्रोध शांत हो गया। विनय में कितनी शक्ति है! बोले—"जी हाँ, बीमार तो था, लेकिन अब अच्छा हो गया हूँ। आपको मेरे कारण व्यर्थ कष्ट उठाना पड़ा। इस समय आपको असुविधा हो, तो रुपए फिर दे दीजिएगा। मैं अब उऋण हो गया हूँ। कोई जल्दी नहीं है।"

गोरेलाल बिदा हो गए, तो व्रजनाथ रुपए लिए हुए भीतर आए, और भामा से बोले—"ये लो अपने रुपए; गोरेलाल दे गए।"

भामा ने कहा—"ये मेरे रुपए नहीं, तुलसी के हैं, एक बार पराया धन लेकर सीख गई।"

व्रजनाथ—"लेकिन तुलसी के तो पूरे रुपए दिए गए?"

भामा—"दे दिए, तो क्या हुआ? ये उसके आशीर्वाद की न्योछावर हैं।"

व्रजनाथ—"कान के झुमके कहाँ से आवेंगे?"

भामा—"झुमके न रहेंगे, न सही, सदा के लिये 'कान' तो हो गए।"

बड़े घर की बेटी

(१)

बेनीमाधवसिंह गौरीपुर-गाँव के ज़मींदार और नंबरदार थे। उनके पितामह किसी समय बड़े धन-धान्य-संपन्न थे। गाँव का पक्का तालाब और मंदिर, जिनकी अब मरम्मत भी मुश्किल थी, उन्हीं के कीर्ति-स्तंभ थे। कहते हैं, इस दरवाज़े पर हाथी झूमता था, अब उसकी जगह एक बूढ़ी भैंस थी, जिसके शरीर में अस्थि-पंजर के सिवा और कुछ शेष न रहा था। पर दूध शायद बहुत देती थी, क्योंकि एक-न-एक आदमी हाँडी लिए उसके सिर पर सवार ही रहता था। बेनीमाधवसिंह अपनी आधी से अधिक संपत्ति वकीलों की भेंट कर चुके थे। उनकी वर्तमान आय एक हज़ार रुपए वार्षिक से अधिक न थी। ठाकुर साहब के दो बेटे थे। बड़े का नाम श्रीकंठसिंह था। उसने बहुत दिनों के परिश्रम और उद्योग के बाद बी० ए० की डिग्री प्राप्त की थी। अब एक दफ़्तर में नौकर था। छोटा लड़का लालबिहारीसिंह दोहरे बदन का, सजीला जवान था। भरा हुआ मुखड़ा, चौड़ी छाती। भैंस का दो सेर ताज़ा दूध वह उठकर सबेरे पी जाता था। श्रीकंठसिंह की दशा उसके बिलकुल विपरीत थी। इन नेत्र-प्रिय गुणों को उन्होंने बी० ए० इन्हीं दो अक्षरों पर न्योछावर कर दिया था। इन दो अक्षरों ने उनके शरीर को निर्बल और चेहरे को कांति-हीन बना दिया था। इसी से वैद्यक-ग्रंथों पर उनका विशेष प्रेम था। आयुर्वेदिक औषधियों पर उनका अधिक विश्वास था। शाम-सबेरे उनके कमरे से प्रायः खरल की सुरीली, कर्ण-मधुर ध्वनि सुनाई दिया करती। लाहौर और कलकत्ते के वैद्यों से बड़ी लिखा-पढ़ी रहती थी।

श्रीकंठ इस अँगरेज़ी डिग्री के अधिपति होने पर भी अँगरेज़ी सामाजिक प्रथाओं के विशेष प्रेमी न थे। बल्कि वह बहुधा बड़े ज़ोर से उनकी निंदा और तिरस्कार किया करते थे। इसी से गाँव में उनका बड़ा सम्मान था। दशहरे के दिनों में वह बड़े उत्साह से रामलीला में सम्मिलित होते और स्वयं किसी-न-किसी पात्र का पार्ट लेते थे। गौरीपुर में राम-लीला के वही जन्मदाता थे। प्राचीन हिंदू-सभ्यता का गुण-गान उनकी धार्मिकता का प्रधान अंग था। सम्मिलित कुटुंब-प्रथा के वह एकमात्र उपासक थे। आजकल स्त्रियों की कुटुंब में मिल-जुलकर रहने की ओर जो अरुचि होती है, उसे वह जाति और देश के लिये बहुत ही हानिकर समझते थे। यही कारण था कि गाँव की ललनाएँ उनकी निंदक थीं। कोई-कोई तो उन्हें अपना शत्रु समझने में भी संकोच न करती थी। स्वयं उनकी पत्नी को ही इस विषय में उनसे विरोध था। यह इसलिये नहीं कि उसे अपनी सास, ससुर, देवर या जेठ आदि से घृणा थी, बल्कि उसका विचार था कि यदि बहुत कुछ सहने और तरह देने पर भी परिवार के साथ निर्वाह न हो सके, तो आए दिन की कलह से जीवन को नष्ट करने की अपेक्षा यही उत्तम है कि अपनी खिचड़ी अलग पकाई जाय।

आनंदी एक बड़े उच्च कुल की लड़की थी। उसके बाप एक छोटी-सी रियासत के ताल्लुकेदार थे। विशाल भवन, एक हाथी, तीन कुत्ते, बाज़, बहरी, शिकरे, झाड़-फ़ानूस, ऑनरेरी मजिस्ट्रेटी और ऋण, जो एक प्रतिष्ठित ताल्लुकेदार के भोग्य पदार्थ हैं, सभी यहाँ विद्यमान थे। नाम था भूपसिंह। बड़े उदार-चित्त और प्रतिभाशाली पुरुष थे। पर दुर्भाग्य से लड़का एक भी न था। सात लड़कियाँ हुईं; और दैवयोग से सब-की-सब जीवित रहीं। पहली उमंग में तो उन्होंने तीन ब्याह दिल खोलकर किए; पर जब पंद्रह-बीस हज़ार रुपयों का क़र्ज़ सिर पर हो गया, तो आँखें खुलीं, हाथ समेट लिया। आनंदी चौथी लड़की थी। वह अपनी सब बहनों से

अधिक रूपवती और गुणवती थी। इसी से ठाकुर भूपसिंह उसे बहुत प्यार करते थे। सुंदर संतान को कदाचित् उसके माता-पिता अधिक चाहते हैं। ठाकुर साहब बड़े धर्म-संकट में थे कि इसका विवाह कहाँ करें। न तो यही चाहते थे कि ऋण का बोझ बढ़े, और न यही स्वीकार था कि उसे अपने को भाग्य-हीन समझना पड़े। एक दिन श्रीकंठ उनके पास किसी चंदे का रुपया माँगने आए। शायद नागरी-प्रचार का चंदा था। भूपसिंह उनके स्वभाव पर रीझ गए, और धूमधाम से श्रीकंठसिंह का आनंदी के साथ ब्याह हो गया।

आनंदी अपने नए घर में आई, तो यहाँ का रंग-ढंग कुछ और ही देखा। जिस टीमटाम की उसे बचपन से ही आदत पड़ी हुई थी, वह यहाँ नाम-मात्र को भी न थी। हाथी-घोड़ों का तो कहना ही क्या, कोई सजी हुई सुंदर बहली तक न थी। रेशमी स्लीपर साथ लाई थी; पर यहाँ बाग़ कहाँ! मकान में खिड़कियाँ तक न थीं, न ज़मीन पर फ़र्श, न दीवार पर तस्वीरें! यह एक सीधा-सादा, देहाती गृहस्थ का मकान था। किंतु आनंदी ने थोड़े ही दिनों में अपने को इस नई अवस्था के ऐसा अनुकूल बना लिया, मानो उसने विलास के सामान कभी देखे ही न थे।

(२)

एक दिन दोपहर के समय लालबिहारीसिंह दो चिड़ियाँ लिए हुए आया, और भावज से बोला—"जल्दी से पका दो, मुझे भूख लगी है।" आनंदी भोजन बनाकर इसी की राह देख रही थी। अब यह नया व्यंजन बनाने बैठी। हाँडी में देखा, तो घी पाव-भर से अधिक न था। बड़े घर की बेटी, किफ़ायत क्या जाने। उसने सब घी मांस में डाल दिया। लालबिहारी खाने बैठा, तो दाल में घी न था। बोला—"दाल में घी क्यों नहीं छोड़ा?"

आनंदी ने कहा—'घी सब मांस में पड़ गया।" लालबिहारी ज़ोर से बोला—"अभी परसों घी आया है, इतनी जल्द उठ गया!"

आनंदी ने उत्तर दिया—"आज तो कुल पाव-भर रहा होगा। वह सब मैंने मांस में डाल दिया।"

जिस तरह सूखी लकड़ी जल्दी से जल उठती है, उसी तरह क्षुधा से बावला मनुष्य ज़रा-ज़रा-सी बात पर तुनक जाता है। लालविहारी को भावज की यह ढिठाई बहुत बुरी मालूम हुई। तनककर बोला—"मैके में तो चाहे घी की नदी बहती हो।"

स्त्रियाँ गालियाँ सह लेती हैं, मार भी सह लेती हैं; पर मैके की निंदा उनसे नहीं सही जाती। आनंदी मुँह फेरकर बोली—"हाथी मरा भी, तो नौ लाख का। वहाँ इतना घी नित्य नाई-कहार खा जाते हैं।"

लालविहारी जल गया, थाली उठाकर पटक दी, और बोला—"जी चाहता है, जीभ पकड़कर खींच लूँ।"

आनंदी को भी क्रोध आ गया। मुँह लाल हो गया, बोली—"वह होते, तो आज इसका मज़ा चखाते।"

अब अपढ़, उजड्ड ठाकुर से न रहा गया। उसकी स्त्री एक साधारण ज़मींदार की बेटी थी। जब जी चाहता, उस पर हाथ साफ़ कर लिया करता था। उसने खड़ाऊँ उठाकर आनंदी की ओर ज़ोर से फेंकी, और बोला—"जिसके गुमान पर भूली हुई हो, उसे भी देखूँगा और तुम्हें भी।"

आनंदी ने हाथ से खड़ाऊँ रोकी; सिर बच गया; पर उँगली में बड़ी चोट आई। क्रोध के मारे हवा से हिलते हुए पत्ते की भाँति काँपती हुई अपने कमरे में आकर खड़ी हो गई। स्त्री का बल और साहस, मान और मर्यादा पति तक है। उसे अपने पति के ही बल और पुरुषत्व का घमंड होता है। आनंदी ख़ून का घूँट पीकर रह गई।

(३)

श्रीकंठसिंह शनिवार को घर आया करते थे। बृहस्पति को यह घटना हुई थी। दो दिन तक आनंदी कोप-भवन में रही। न कुछ खाया, न

पिया, उनकी बाट देखती रही। अंत में शनिवार को वह नियमानुकूल संध्या-समय घर आए, और बाहर बैठकर कुछ इधर-उधर की बातें, कुछ देश-काल-संबंधी समाचार तथा कुछ नए मुकदमों आदि की चर्चा करने लगे। यह वार्तालाप दस बजे रात तक होता रहा। गाँव के भद्र पुरुषों को इन बातों में ऐसा आनंद मिलता था कि खाने-पीने की भी सुध न रहती थी। श्रीकंठ को पिंड छुड़ाना मुश्किल हो जाता था। ये दो-तीन घंटे आनंदी ने बड़े कष्ट से काटे। किसी तरह भोजन का समय आया। पंचायत उठी। जब एकांत हुआ, तो लालबिहारी ने कहा—"भैया, आप ज़रा भाभी को समझा दीजिएगा कि मुँह सँभालकर बातचीत किया करें, नहीं तो एक दिन अनर्थ हो जायगा।"

बेनीमाधवसिंह ने बेटे की ओर से साक्षी दी—"हाँ, बहू-बेटियों का यह स्वभाव अच्छा नहीं कि मर्दों के मुँह लगें।"

लालबिहारी—"वह बड़े घर की बेटी है, तो हम भी कोई कुर्मी-कहार नहीं हैं।"

श्रीकंठ ने चिंतित स्वर से पूछा—"आखिर, बात क्या हुई?"

लालबिहारी ने कहा—"कुछ भी नहीं, यों ही आप-ही-आप उलझ पड़ी। मैके के सामने हम लोगों को तो कुछ समझती ही नहीं।"

श्रीकंठ खा-पीकर आनंदी के पास गए। वह भरी बैठी थी। यह हज़रत भी कुछ तीखे थे। आनंदी ने पूछा—"चित्त तो प्रसन्न है?"

श्रीकंठ बोले—"बहुत प्रसन्न है; पर तुमने आजकल घर में यह क्या उपद्रव मचा रक्खा है?"

आनंदी की तेवरियों पर बल पड़ गए; झुँझलाहट के मारे बदन में ज्वाला-सी दहक उठी। बोली—"जिसने तुमसे यह आग लगाई है, उसे पाऊँ, तो मुँह झुलस दूँ।"

श्रीकंठ—"इतनी गरम क्यों होती हो, बात तो कहो।"

आनंदी—"क्या कहूँ, यह मेरे भाग्य का फेर है। नहीं तो एक गँवार

छोकरा, जिसे चपरासगिरी करने का भी शऊर नहीं, मुझे खड़ाऊँ से मारकर यों न अकड़ता।"

श्रीकंठ—"साफ़-साफ़ हाल कहो, तो मालूम हो। मुझे तो कुछ पता नहीं।"

आनंदी—"परसों तुम्हारे लाड़ले भाई ने मुझसे मांस पकाने को कहा। घी हाँडी में पाव-भर से अधिक न था। वह सब मैंने मांस में डाल दिया। जब खाने बैठा, तो कहने लगा—'दाल में घी क्यों नहीं है?' बस, इसी पर मेरे मैके को भला-बुरा कहने लगा। मुझसे न रहा गया। मैंने कहा—'वहाँ इतना घी तो नाई-कहार खा जाते हैं, और किसी को जान भी नहीं पड़ता।' बस, इतनी-सी बात पर इस अन्यायी ने मुझ पर खड़ाऊँ फेक मारी। यदि हाथ से न रोक लूँ, तो सिर फट जाय। उसी से पूछो, मैंने जो कुछ कहा है, वह सच है या झूठ।"

श्रीकंठ की आँखें लाल हो गईं। बोले—"यहाँ तक हो गया! इस छोकरे का यह साहस!"

आनंदी स्त्रियों के स्वभावानुसार रोने लगी; क्योंकि आँसू उनकी पलकों पर रहते हैं। श्रीकंठ बड़े धैर्यवान् और शांत पुरुष थे। उन्हें कदाचित् ही कभी क्रोध आता था। पर स्त्रियों के आँसू पुरुषों की क्रोधाग्नि भड़काने में तेल का काम देते हैं। रात-भर करवटें बदलते रहे। उद्विग्नता के कारण पलक तक नहीं झपकी। प्रातःकाल अपने बाप के पास जाकर बोले—"दादा, अब इस घर में मेरा निर्बाह न होगा।"

इस तरह की विद्रोह-पूर्ण बातें कहने पर श्रीकंठ ने कितनी ही बार अपने कई मित्रों को आड़े-हाथों लिया। परंतु दुर्भाग्य, आज उन्हें स्वयं वे ही बातें अपने मुँह से कहनी पड़ीं! दूसरों को उपदेश देना भी कितना सहज है!

बेनीमाधवसिंह घबरा उठे, और बोले—"क्यों?"

श्रीकंठ—"इसलिये कि मुझे भी अपनी मान-प्रतिष्ठा का कुछ विचार है। आपके घर में अब अन्याय और हठ का प्रकोप हो रहा है। जिन्हें बड़ों का आदर-सम्मान करना चाहिए, वे उनके सिर चढ़ते हैं। मैं दूसरे का नौकर ठहरा, घर पर रहता नहीं, यहाँ मेरे पीछे स्त्रियों पर खड़ाऊँ और जूतों की बौछारें होती हैं। कड़ी बात तक चिंता नहीं, कोई एक की दो कह ले, यहाँ तक मैं सह सकता हूँ, किंतु यह कदापि नहीं हो सकता कि मेरे ऊपर लात-घूँसे पड़ें, और मैं दम न मारूँ।"

बेनीमाधवसिंह कुछ जवाब न दे सके। श्रीकंठ सदैव उनका आदर करते थे। उनके ऐसे तेवर देखकर बूढ़ा ठाकुर अवाक् रह गया। केवल इतना ही बोला—"बेटा, तुम बुद्धिमान् होकर ऐसी बातें करते हो? स्त्रियाँ इसी तरह घर का नाश कर देती हैं। उन्हें बहुत सिर चढ़ाना अच्छा नहीं।"

श्रीकंठ—"इतना मैं जानता हूँ, आपके आशीर्वाद से ऐसा मूर्ख नहीं हूँ। आप स्वयं जानते हैं कि मेरे ही समझाने-बुझाने से, इसी गाँव में, कई घर सँभल गए। पर जिस स्त्री की मान-प्रतिष्ठा का मैं ईश्वर के दरबार में उत्तरदाता हूँ, उसके प्रति ऐसा घोर अन्याय और पशुवत् व्यवहार मुझे असह्य है। आप सच मानिए, मेरे लिये यही कुछ कम नहीं है कि लालविहारी को कुछ दंड नहीं देता।"

अब बेनीमाधवसिंह भी गरमाए। ऐसी बातें और न सुन सके। बोले—"लालविहारी तुम्हारा भाई है। उससे जब कभी भूल-चूक हो, उसके कान पकड़ो। लेकिन—"

श्रीकंठ—"लालविहारी को मैं अब अपना भाई नहीं समझता।"

बेनीमाधवसिंह—"स्त्री के पीछे?"

श्रीकंठ—"जी नहीं, उसकी क्रूरता और अविवेक के कारण।"

दोनो कुछ देर चुप रहे। ठाकुर साहब लड़के का क्रोध शांत करना चाहते थे। लेकिन यह नहीं स्वीकार करना चाहते थे कि लालविहारी ने

कोई अनुचित काम किया है। इसी बीच में गाँव के और कई सज्जन हुक्के-चिलम के बहाने वहाँ आ बैठे। कई स्त्रियों ने जब यह सुना कि श्रीकंठ पत्नी के पीछे पिता से लड़ने पर तैयार हैं, तो उन्हें बड़ा हर्ष हुआ। दोनो पक्षों की मधुर वाणियाँ सुनने के लिये उनकी आत्माएँ तल-मलाने लगीं। गाँव में कुछ ऐसे कुटिल मनुष्य भी थे, जो इस कुल की नीति-पूर्ण गति पर मन-ही-मन जलते थे। वे कहा करते थे—"श्रीकंठ अपने बाप से दबता है, इसलिये वह दब्बू है। उसने विद्या पढ़ी, इस-लिये वह किताबों का कीड़ा है। बेनीमाधवसिंह उसकी सलाह के विना कोई काम नहीं करते, यह उनकी मूर्खता है।" इन महानुभावों की शुभ कामनाएँ आज पूरी होती दिखाई दीं। कोई हुक्का पीने के बहाने और कोई लगान की रसीद दिखाने आकर बैठ गया। बेनीमाधवसिंह पुराने आदमी थे। इन भावों को ताड़ गए। उन्होंने निश्चय किया कि चाहे कुछ ही क्यों न हो, इन द्रोहियों को ताली बजाने का अवसर न दूँगा। तुरंत कोमल शब्दों में बोले—"बेटा, मैं तुमसे बाहर नहीं हूँ। तुम्हारा जो जी चाहे करो, अब तो लड़के से अपराध हो गया।"

इलाहाबाद का अनुभव-रहित झल्लाया हुआ ग्रेजुएट इस बात को न समझ सका। उसे डिबेटिंग क्लब में अपनी बात पर अड़ने की आदत थी, इन हथकंडों की उसे क्या खबर? बाप ने जिस मतलब से बात पलटी थी, वह उसकी समझ में न आया। बोला—"मैं लालबिहारी के साथ अब इस घर में नहीं रह सकता।"

बेनीमाधव—"बेटा, बुद्धिमान् लोग मूर्खों की बात पर ध्यान नहीं देते। वह बेसमझ लड़का है। उससे जो कुछ भूल हुई, उसे तुम बड़े होकर क्षमा कर दो।"

श्रीकंठ—"उसकी इस दुष्टता को मैं कदापि नहीं सह सकता। या तो वही घर में रहेगा, या मैं ही। आपको यदि वह अधिक प्यारा है, तो मुझे बिदा कीजिए, मैं अपना भार आप सँभाल लूँगा। यदि मुझे रखना

चाहते हैं, तो उससे कहिए, जहाँ चाहे चला जाय। बस, यह मेरा अंतिम निश्चय है।"

लालबिहारीसिंह दरवाज़े की चौखट पर चुपचाप खड़ा बड़े भाई की बातें सुन रहा था। वह उनका बहुत आदर करता था। उसे कभी इतना साहस न हुआ था कि श्रीकंठ के सामने चारपाई पर बैठ जाय, हुक्का पी ले, या पान खा ले। बाप का भी वह इतना मान न करता था। श्रीकंठ का भी उस पर हार्दिक स्नेह था। अपने होश में उन्होंने कभी उसे घुड़का तक न था। जब इलाहाबाद से आते, तो उसके लिये कोई-न-कोई वस्तु अवश्य लाते। मुग्दर की जोड़ी उन्हीं ने बनवा दी थी। पिछले साल जब उसने अपने से ड्योढ़े जवान को नागपंचमी के दिन दंगल में पछाड़ दिया, तो उन्होंने पुलकित होकर, अखाड़े में ही जाकर उसे गले लगा लिया था, पाँच रुपए के पैसे लुटाए थे। ऐसे भाई के मुँह से आज ऐसी हृदयविदारक बात सुनकर लालबिहारी को बड़ी ग्लानि हुई। वह फूट-फूटकर रोने लगा। इसमें संदेह नहीं कि वह अपने किए पर पछता रहा था। भाई के आने से एक दिन पहले से उसकी छाती धड़कती थी कि देखूँ, भैया क्या कहते हैं। मैं उनके सम्मुख कैसे जाऊँगा, उनसे कैसे बोलूँगा, मेरी आँखें उनके सामने कैसे उठेंगी। उसने समझा था कि भैया मुझे बुलाकर समझा देंगे। इस आशा के विपरीत आज उसने उन्हें निर्दयता की मूर्ति बने हुए पाया। वह मूर्ख था; परंतु उसका मन कहता था कि भैया मेरे साथ अन्याय कर रहे हैं। यदि श्रीकंठ उसे अकेले में बुलाकर दो-चार कड़ी बातें कह देते, इतना ही नहीं, दो-चार तमाचे भी लगा देते, तो कदाचित् उसे इतना दुःख न होता। पर भाई का यह कहना कि अब मैं इसकी सूरत नहीं देखना चाहता, लालबिहारी से न सहा गया। वह रोता हुआ घर में आया। कोठरी में जाकर कपड़े पहने, आँखें पोछीं, जिसमें कोई यह न समझे कि रोता था। तब आनंदी के द्वार पर आकर बोला—"भाभी, भैया ने निश्चय किया है कि वह

मेरे साथ इस घर में न रहेंगे, वह अब मेरा मुँह नहीं देखना चाहते। इसलिये मै अब जाता हूँ, उन्हें फिर मुँह न दिखाऊँगा। मुझसे जो कुछ अपराध हुआ, उसे क्षमा करना।"

यह कहते-कहते लालविहारी का गला भर आया।

(४)

जिस समय लालविहारीसिंह सिर झुकाए आनंदी के द्वार पर खड़ा था, उसी समय श्रीकंठसिंह भी आँखें लाल किए बाहर से आए। भाई को खड़ा देखा, तो घृणा से आँखें फेर लीं, और कतराकर निकल गए। मानो उसकी परछाहीं से भी दूर भागते हैं।

आनंदी ने लालविहारी की शिकायत तो की थी, लेकिन अब मन में पछता रही थी। वह स्वभाव से ही दयावती थी। उसे इसका तनिक भी ध्यान न था कि बात इतनी बढ़ जायगी। वह मन में अपने पति पर झुँझला रही थी कि यह इतने गरम क्यों होते जाते हैं। उस पर यह भय भी लगा हुआ था कि कहीं मुझसे इलाहाबाद चलने को कहें, तो कैसे क्या करूँगी? इसी बीच में जब उसने लालविहारी को दरवाज़े पर खड़े यह कहते सुना कि अब मैं जाता हूँ, मुझसे जो कुछ अपराध हुआ, उसे क्षमा करना, तो उसका रहा-सहा क्रोध भी पानी हो हो गया। वह रोने लगी। मन का मैल धोने के लिये नयन-जल से बढ़कर और कोई वस्तु नहीं।

श्रीकंठ को देखकर आनंदी ने कहा—"लाला बाहर खड़े बहुत रो रहे हैं।"

श्रीकंठ—"तो मैं क्या करूँ?"

आनंदी—"भीतर बुला लो। मेरी जीभ में आग लगे। मैंने कहाँ से यह झगड़ा उठाया।"

श्रीकंठ—"मैं न बुलाऊँगा।"

आनंदी—"पछताओगे, उन्हें बहुत ग्लानि हो गई है, ऐसा न हो, कहीं चल दें।"

श्रीकंठ न उठे। इतने में लालबिहारी ने फिर कहा—"भाभी, भैया से मेरा प्रणाम कह दो। वह मेरा मुँह नहीं देखना चाहते, इसलिये मैं भी अपना मुँह उन्हें न दिखाऊँगा।"

लालबिहारी इतना कहकर लौट पड़ा, और शीघ्रता से दरवाज़े की ओर बढ़ा। अंत में आनंदी कमरे से निकली, और उसका हाथ पकड़ लिया। लालबिहारी ने पीछे फिरकर देखा, और आँखों में आँसू भरे बोला—"मुझे जाने दो।"

आनंदी—"कहाँ जाते हो ?"

लालबिहारी—"जहाँ कोई मेरा मुँह न देखे।"

आनंदी—"मैं न जाने दूँगी।"

लालबिहारी—"मैं तुम लोगों के साथ रहने योग्य नहीं।"

आनंदी—"तुम्हें मेरी सौगंद, अब एक पग भी आगे न बढ़ाना।"

लालबिहारी—"जब तक मुझे यह न मालूम हो जाय कि भैया का मन मेरी तरफ़ से साफ़ हो गया, तब तक मैं इस घर में कदापि न रहूँगा।"

आनंदी—"मैं ईश्वर की साक्षी देकर कहती हूँ कि तुम्हारी ओर से मेरे मन में तनिक भी मैल नहीं।"

अब श्रीकंठ का हृदय भी पिघला। उन्होंने बाहर आकर लालबिहारी को गले लगा लिया। दोनो भाई खूब फूट-फूटकर रोए। लालबिहारी ने सिसकते हुए कहा—"भैया, अब कभी मत कहना कि तुम्हारा मुँह न देखूँगा। इसके सिवा आप जो दंड देंगे, वह मैं सहर्ष स्वीकार करूँगा।"

श्रीकंठ ने काँपते हुए स्वर से कहा—"लल्लू! इन बातों को बिलकुल भूल जाओ। ईश्वर चाहेगा, तो अब फिर ऐसा अवसर न आवेगा।"

बेनीमाधवसिंह बाहर से आ रहे थे। दोनो भाइयों को गले मिलते

देखकर आनंद से पुलकित हो गए। बोल उठे—"बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं। बिगड़ता हुआ काम बना लेती हैं।"

गाँव में जिसने यह वृत्तांत सुना, उसी ने इन शब्दों में आनंदी की उदारता को सराहा—"बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं।"

सत्याग्रह

(१)

हिज़ एक्सेलेंसी वाइसराय बनारस आ रहे थे। सरकारी कर्मचारी, छोटे से बड़े तक, उनके स्वागत की तैयारियाँ कर रहे थे। इधर कांग्रेस ने शहर में हड़ताल मनाने की सूचना दे दी थी। इससे कर्मचारियों में बड़ी हलचल थी। एक ओर सड़कों पर झंडियाँ लगाई जा रही थीं, सफ़ाई हो रही थी, बड़े-बड़े विशाल फाटक बनाए जा रहे थे, दफ़्तरों की सजावट हो रही थी, पंडाल बन रहा था; दूसरी ओर फ़ौज और पुलिस के सिपाही संगीनें चढ़ाए शहर की गलियों में और सड़कों पर कवायद करते फिरते थे। कर्मचारियों की सिरतोड़ कोशिश थी कि हड़ताल न होने पावे, मगर कांग्रेसियों को धुन थी कि हड़ताल हो, और ज़रूर हो। अगर कर्मचारियों को पशुबल का ज़ोर है, तो हमें नैतिक बल का भरोसा है। इस बार दोनो की परीक्षा हो जाय कि मैदान किसके हाथ रहता है।

घोड़े पर सवार मैजिस्ट्रेट सुबह से शाम तक दूकानदारों को धमकियाँ देता फिरता कि एक-एक को जेल भिजवा दूँगा, बाज़ार लुटवा दूँगा; यह करूँगा, वह करूँगा! दूकानदार हाथ बाँधकर कहते—"हुज़ूर बादशाह हैं, विधाता हैं, जो चाहें, कर सकते हैं। पर हम क्या करें? कांग्रेसवाले हमें जीता न छोड़ेंगे! हमारी दूकानों पर धरने देंगे, हमारे ऊपर बाल बढ़ावेंगे, कुएँ में गिरेंगे, उपवास करेंगे। कौन जाने दो-चार प्राण ही दे दें, तो हमारे मुँह पर सदैव के लिये कारिख पुत जायगी। हुज़ूर उन्हीं कांग्रेसवालों को समझावें, तो हमारे ऊपर बड़ा एहसान करें। हड़ताल न करने से हमारी कुछ हानि थोड़े ही होगी। देश के बड़े-बड़े

आदमी आवेंगे, हमारी दूकानें खुली रहेंगी, तो एक के दो लेंगे, मँहगे सौदे बेचेंगे; पर करें क्या? इन शैतानों से तो कोई बस नहीं चलता।"

राय हरनंदन साहब, राजा लालचंद और ख़ाँ बहादुर मौलवी महमूद-अली तो कर्मचारियों से ज़्यादा बेचैन थे। मैजिस्ट्रेट के साथ-साथ और अकेले भी बड़ी कोशिश करते थे। अपने मकान पर बुलाकर दूकानदारों को समझाते, अनुनय-विनय करते, आँखें दिखाते, इक्के-बग्घीवालों को धमकाते, मज़दूरों की ख़ुशामद करते; पर कांग्रेस के मुट्ठी-भर आदमियों का कुछ ऐसा आतंक छाया हुआ था कि कोई इनकी सुनता ही न था। यहाँ तक कि पड़ोस की कुँजड़िन ने भी निर्भय होकर कह दिया—"हुज़ूर, चाहे मार डालो, पर दूकान न खुलेगी। नाक न कटवाऊँगी।" सबसे बड़ी चिंता यह थी कि कहीं पंडाल बनानेवाले मज़दूर, बढ़ई, लोहार वग़ैरा काम न छोड़ दें; नहीं तो अनर्थ ही हो जायगा। राय साहब ने कहा—"हुज़ूर दूसरे शहरों से दूकानदार बुलवावें, और एक बाज़ार अलग खोलें।"

ख़ाँ साहब ने फ़रमाया—"वक़्त इतना कम रह गया है कि दूसरा बाज़ार तैयार नहीं हो सकता। हुज़ूर कांग्रेसवालों को गिरफ़्तार कर लें या उनकी जायदाद ज़ब्त कर लें, फिर देखिए, कैसे क़ाबू में नहीं आते।"

राजा साहब बोले—"पकड़-धकड़ से तो लोग और भी झल्लाएँगे। कांग्रेसवालों से हुज़ूर कहें कि तुम हड़ताल बंद करा दो, तो सबको सरकारी नौकरी दे दी जायगी। उसमें अधिकांश बेकार लोग भरे पड़े हैं, यह प्रलोभन पाते ही फूल उठेंगे।"

मगर मैजिस्ट्रेट को कोई राय न जँची। यहाँ तक कि वाइसराय के आने में तीन दिन और रह गए।

(२)

आख़िर राजा साहब को एक युक्ति सूझी। क्यों न हम लोग भी

नैतिक बल का प्रयोग करें ? आख़िर कांग्रेसवाले धर्म और नीति के नाम पर ही तो यह तूमार बाँधते हैं। हम लोग भी उन्हीं का अनुकरण करें, शेर को उसकी मांद में पछाड़ें। कोई ऐसा आदमी पैदा करना चाहिए, जो व्रत करे कि दूकानें न खुलीं, तो मैं प्राण दे दूँगा। यह ज़रूरी है कि वह ब्राह्मण हो, और ऐसा, जिसे शहर के लोग मानते हों, आदर करते हों। अन्य सहयोगियों के मन में भी यह बात बैठ गई। उछल पड़े। राय साहब ने कहा—"बस, अब पड़ाव मार लिया। अच्छा, ऐसा कौन पंडित है, पंडित गदाधर शर्मा ?"

राजा—"जी नहीं, उसे कौन मानता है ? ख़ाली समाचार-पत्रों में लिखा करता है। शहर के लोग उसे क्या जानें ?"

राय साहब—"दमड़ी ओझा तो है इस ढंग का ?"

राजा—"जी नहीं, कॉलेज के विद्यार्थियों के सिवा उसे और कौन जानता है ?"

राय साहब—"पंडित मोटेराम शास्त्री ?"

राजा—"बस-बस। आपने ख़ूब सोचा। बेशक वह है इस ढंग का। उसी को बुलाना चाहिए। विद्वान् है, धर्म-कर्म से रहता है, चतुर भी है। वह अगर हाथ में आ जाय, तो फिर बाज़ी हमारी है।"

राय साहब ने तुरंत पंडित मोटेराम के घर संदेशा भेजा। उस समय शास्त्रीजी पूजा पर थे। यह पैग़ाम सुनते ही जल्दी से पूजा समाप्त की, और चले। राजा साहब ने बुलाया है, धन्य भाग ! धर्मपत्नी से बोले—"आज चंद्रमा कुछ बली मालूम होते हैं। कपड़े लाओ, देखूँ, क्यों बुलाया है।"

स्त्री ने कहा—"भोजन तैयार है, करते जाओ; न-जाने कब लौटने का अवसर मिले।"

किंतु शास्त्रीजी ने आदमी को इतनी देर खड़ा रखना उचित न समझा।

जाड़े के दिन थे। हरी बनात की अचकन पहनी, जिस पर लाल शंजाफ़ लगी हुई थी। गले में एक जरी का दुपट्टा डाला। सिर पर बनारसी साफ़ा बाँधा। लाल, चौड़े किनारे की रेशमी धोती पहनी, और खड़ाऊँ पर चले। उनके मुख से ब्रह्म-तेज टपकता था। दूर ही से मालूम होता था, कोई महात्मा आ रहे हैं। रास्ते में जो मिलता, सिर झुकाता। कितने ही दूकानदारों ने खड़े होकर पैलगी की। आज काशी का नाम इन्हीं की बदौलत चल रहा है, नहीं तो और कौन रह गया है। कितना नम्र स्वभाव है। बालकों से हँसकर बातें करते हैं। इस ठाट से पंडितजी राजा साहब के मकान पर पहुँचे। तीनों मित्रों ने खड़े होकर उनका सम्मान किया। ख़ाँ बहादुर बोले—"कहिए पंडितजी, मिज़ाज तो अच्छे हैं? वल्लाह, आप नुमायश में रखने के क़ाबिल आदमी हैं। आपका वज़न दस मन से कम तो न होगा।"

राय साहब—"एक मन इल्म के लिये दस मन अक़्ल चाहिए। उसी क़ायदे से एक मन अक़्ल के लिये दस मन का जिस्म ज़रूरी है; नहीं तो उसका बोझ कौन उठावे?"

राजा साहब—"आप लोग इसका मतलब नहीं समझते। बुद्धि एक प्रकार का नज़ला है; जब दिमाग़ में नहीं समाती, तो जिस्म में आ जाती है।"

ख़ाँ साहब—"मैंने तो बुज़ुर्गों की ज़बानी सुना है कि मोटे आदमी अक़्ल के दुश्मन होते हैं।"

राय साहब—"आपका हिसाब कमज़ोर था, वर्ना आपकी समझ में इतनी बात ज़रूर आ जाती कि जब अक़्ल और जिस्म में १ और १० की निस्बत है, तो जितना ही मोटा आदमी होगा, उतना ही उसकी अक़्ल का वज़न भी ज़्यादा होगा।"

राजा साहब—"इससे यह साबित हुआ कि जितना ही मोटा आदमी, उतनी ही मोटी उसकी अक़्ल।"

मोटेराम—"जब मोटी अक़्ल की बदौलत राजदरबार में पूछ होती है, तो मुझे पतली अक़्ल लेकर क्या करना है ?"

हास-परिहास के बाद राजा साहब ने वर्तमान समस्या पंडितजी के सामने उपस्थित की, और, उसके निवारण का जो उपाय सोचा था, वह भी प्रकट किया। बोले—"बस, यह समझ लीजिए कि इस साल आपका भविष्य पूर्णतया अपने हाथों में है। शायद किसी आदमी को अपने भाग्य-निर्णय का ऐसा महत्त्व-पूर्ण अवसर न मिला होगा। हड़ताल न हुई, तो और कुछ नहीं कह सकते, आपको जीवन-भर किसी के दरवाज़े जाने की ज़रूरत न होगी। बस, ऐसा कोई व्रत ठानिए कि शहरवाले थर्रा उठें। कांग्रेसवालों ने धर्म का अवलंबन करके इतनी शक्ति बढ़ाई है। बस, ऐसी कोई युक्ति निकालिए कि जनता के धार्मिक भावों को चोट पहुँचे।"

मोटेराम ने गंभीर भाव से उत्तर दिया—"यह तो कोई ऐसा कठिन काम नहीं है। मैं तो ऐसे-ऐसे अनुष्ठान कर सकता हूँ कि आकाश से जल की वर्षा करा दूँ; मरी के प्रकोप को भी शांत कर दूँ; अन्न का भाव घटा-बढ़ा दूँ। कांग्रेसवालों को परास्त कर देना तो कोई बड़ी बात नहीं। अँगरेज़ी पढ़े-लिखे महानुभाव समझते हैं कि जो काम हम कर सकते हैं, वह कोई नहीं कर सकता। पर गुप्त विद्याओं का उन्हें भी ज्ञान नहीं।"

ख़ाँ साहब—"तब तो जनाब, यह कहना चाहिए कि आप दूसरे ख़ुदा हैं। हमें क्या मालूम था कि आपमें यह क़ुदरत है; नहीं तो इतने दिनों तक क्यों परेशान होते।"

मोटेराम—"साहब, मैं गुप्त धन का पता लगा सकता हूँ, पितरों को बुला सकता हूँ; केवल गुण-ग्राहक चाहिए। संसार में गुणियों का अभाव नहीं है, गुणज्ञों का ही अभाव है।—'गुन ना हिरानो, गुन-गाहक हिरानो है।"

राजा—"भला, इस अनुष्ठान के लिये आपको क्या भेंट करना होगा ?"

मोटेराम—"जो कुछ आपकी श्रद्धा हो।"

राजा—"कुछ बतला सकते हैं कि यह कौन-सा अनुष्ठान होगा ?"

मोटेराम—"अनशन-व्रत के साथ मंत्रों का जप होगा। सारे शहर में हलचल न मचा दूँ, तो मोटेराम नाम नहीं।"

राजा—"तो फिर कब से ?"

मोटेराम—"आज ही हो सकता है। हाँ, पहले देवतों के आवाहन के निमित्त थोड़े-से रुपए दिला दीजिए।"

रुपयों की कमी ही क्या थी। पंडितजी को रुपए मिल गए, और वह खुश-खुश घर आए। धर्मपत्नी से सारा समाचार कहा। उसने चिंतित होकर कहा—"तुमने नाहक यह रोग अपने सिर लिया! भूख न बरदाश्त हुई, तो ? सारे शहर में भद हो जायगी, लोग हँसी उड़ावेंगे। रुपए लौटा दो।"

मोटेराम ने आश्वासन देते हुए कहा—"भूख कैसे न बरदाश्त होगी ? मैं ऐसा मूर्ख थोड़े ही हूँ कि यों ही जा बैठूँगा; पहले मेरे भोजन का प्रबंध करो। इमर्तियाँ, लड्डू, रसगुल्ले मँगाओ। पेट-भर भोजन कर लूँ। फिर आधसेर मलाई खाऊँगा, उसके ऊपर आधसेर बादाम की तह जमाऊँगा। बची-खुची कसर मलाईवाले दही से पूरी कर दूँगा। फिर देखूँगा, भूख क्योंकर पास फटकती है! तीन दिन तक तो साँस ही न ली जायगी, भूख की कौन चलावे। इतने में तो सारे शहर में खलबली मच जायगी। भाग्य का सूर्य उदय हुआ है, इस समय आगा-पीछा करने से पछताना पड़ेगा। बाज़ार न बंद हुआ, तो समझ लो, मालामाल हो जाऊँगा। नहीं तो यहाँ गाँठ से क्या जाता है ? सौ रुपए तो हाथ लग ही गए।"

इधर तो भोजन का प्रबंध हुआ, उधर पंडित मोटेराम ने डौंड़ी

पिटवा दी कि संध्या-समय टाउन-हॉल के मैदान में पंडित मोटेराम देश की राजनीतिक समस्या पर व्याख्यान देंगे, लोग अवश्य आवें। पंडितजी सदैव राजनीतिक विषयों से अलग रहते थे। आज वह इस विषय पर कुछ बोलेंगे, सुनना चाहिए। लोगों को उत्सुकता हुई। पंडितजी का शहर में बड़ा मान था। नियत समय पर कई हज़ार आदमियों की भीड़ लग गई। पंडितजी घर से अच्छी तरह तैयार होकर पहुँचे। पेट इतना भरा हुआ था कि चलना कठिन था! ज्यों ही यह वहाँ पहुँचे, दर्शकों ने खड़े होकर इन्हें साष्टांग दंडवत्-प्रणाम किया।

मोटेराम बोले—"नगर-वासियो, व्यापारियो, सेठो और महाजनो, मैंने सुना है, तुम लोगों ने कांग्रेसवालों के कहने में आकर बड़े लाट साहब के शुभागमन के अवसर पर हड़ताल करने का निश्चय किया है। यह कितनी बड़ी कृतघ्नता है? वह चाहें, तो आज तुम लोगों को तोप के मुँह पर उड़वा दें, सारे शहर को खुदवा डालें। राजा हैं, हँसी-ठट्ठा नहीं। वह तरह देते जाते हैं, तुम्हारी दीनता पर दया करते हैं, और तुम गउओं की तरह हत्या के बल खेत चरने को तैयार हो! लाट साहब चाहें, तो आज रेल बंद कर दें, डाक बंद कर दें, माल का आना-जाना बंद कर दें। तब बताओ, क्या करोगे? वह चाहें, तो आज सारे शहर-वालों को जेल में डाल दें। बताओ, क्या करोगे? तुम उनसे भागकर कहाँ जा सकते हो? है कहीं ठिकाना? इसलिये जब इसी देश में और उन्हीं के अधीन रहना है, तो इतना उपद्रव क्यों मचाते हो? याद रक्खो, तुम्हारी जान उनकी मुट्ठी में है। ताऊन के कीड़े फैला दें, तो सारे नगर में हाहाकार मच जाय। तुम झाड़ू से आँधी को रोकने चले हो? खबरदार, जो किसी ने बाज़ार बंद किया; नहीं तो कहे देता हूँ, यहीं अन्न-जल बिना प्राण दे दूँगा—"

एक आदमी ने शंका की—"महाराज, आपके प्राण निकलते-निकलते महीने-भर से कम न लगेगा। तीन दिन में क्या होगा?"

मोटेराम ने गरजकर कहा—"प्राण शरीर में नहीं रहता, ब्रह्मांड में रहता है। मैं चाहूँ, तो योग-बल से अभी प्राण-त्याग कर सकता हूँ। मैंने तुम्हें चेतावनी दे दी; अब तुम जानो, तुम्हारा काम जाने। मेरा कहना मानोगे, तो तुम्हारा कल्याण होगा। न मानोगे, तो हत्या लगेगी, संसार में कहीं मुँह न दिखला सकोगे। बस, यह लो मैं यहीं आसन जमाता हूँ।"

(३)

शहर में यह समाचार फैला, तो लोगों के होश उड़ गए। अधिकारियों की इस नई चाल ने उन्हें हतबुद्धि-सा कर दिया। कांग्रेस के कर्मचारी तो अब भी कहते थे—"यह सब पाखंड है। राजभक्तों ने पंडित को कुछ दे-दिलाकर यह स्वाँग खड़ा किया है। जब और कोई बस न चला, फ़ौज, पुलिस, क़ानून, सभी युक्तियों से हार गए, तो यह नई माया रची है। यह और कुछ नहीं, राजनीति का दिवाला है। नहीं तो पंडितजी ऐसे कहाँ के देश-सेवक थे, जो देश की दशा से दुःखी होकर व्रत ठानते। इन्हें भूखों मरने दो, दो दिन में चें बोल जायँगे। इस नई चाल की जड़ अभी से काट देनी चाहिए। कहीं यह चाल सफल हो गई, तो समझ लो, अधिकारियों के हाथ में एक नया शस्त्र आ जायगा, और सदैव इसका प्रयोग करेंगे। जनता इतनी समझदार तो है नहीं कि इन रहस्यों को समझे। गीदड़-भबकी में आ जायगी।"

लेकिन नगर के बनिए-महाजन, जो प्रायः धर्म-भीरु होते हैं, ऐसे घबरा गए कि उन पर इन बातों का कुछ असर ही न होता था। वे कहते थे—"साहब, आप लोगों के कहने से सरकार के बुरे बने; नुक़सान उठाने को तैयार हुए; रोज़गार छोड़ा; कितनों के दिवाले हो गए; अफ़सरों को मुँह दिखाने लायक़ नहीं रहे। पहले जहाँ जाते थे, अधिकारी लोग 'आइए सेठजी' कहकर सम्मान करते थे, अब रेलगाड़ियों में धक्के खाते हैं, पर कोई नहीं सुनता; आमदनी चाहे कुछ हो या

नहीं, बहियों की तौल देखकर टैक्स बढ़ा दिया जाता है। यह सब सहा, और सहेंगे, लेकिन धर्म के मामले में हम आप लोगों का नेतृत्व नहीं स्वीकार कर सकते। जब एक विद्वान्, कुलीन, धर्म-निष्ठ ब्राह्मण हमारे ऊपर अन्न-जल त्याग कर रहा है, तब हम क्योंकर भोजन करके, टाँगे फैलाकर सोवें? कहीं मर गया, तो भगवान् के सामने क्या जवाब देंगे?"

सारांश यह कि कांग्रेसवालों की एक न चली। व्यापारियों का एक डेपुटेशन नौ बजे रात को पंडितजी की सेवा में उपस्थित हुआ। पंडितजी ने आज भोजन तो ख़ूब डटकर किया था, लेकिन डटकर भोजन करना उनके लिये कोई असाधारण बात न थी। महीने में प्रायः २० दिन वह अवश्य ही न्योता पाते थे, और निमंत्रण में डटकर भोजन करना एक स्वाभाविक बात है। अपने सहभोजियों की देखा-देखी, लाग-डाँट की धुन में, या गृह-स्वामी के सविनय आग्रह से, और सबसे बढ़कर पदार्थों की उत्कृष्टता के कारण, भोजन मात्रा से अधिक हो ही जाता है। पंडितजी की जठराग्नि ऐसी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होती रहती थी। अतएव इस समय भोजन का समय आ जाने से उनकी नियत कुछ डाँवाडोल हो रही थी। यह बात नहीं कि वह भूख से व्याकुल थे, लेकिन भोजन का समय आ जाने पर अगर पेट अफरा हुआ न हो, अजीर्ण न हो गया हो, तो मन में एक प्रकार की भोजन की चाह होने लगती है। शास्त्रीजी की इस समय यही दशा हो रही थी। जी चाहता था, किसी खोंचेवाले को पुकारकर कुछ ले लेते; किंतु अधिकारियों ने उनकी शरीर-रक्षा के लिये वहाँ कई सिपाहियों को तैनात कर दिया था। वे सब हटने का नाम न लेते थे। पंडितजी की विशाल बुद्धि इस समय यही समस्या हल कर रही थी कि इन यमदूतों को कैसे टालूँ! ख़ामख़्वाह इन पाजियों को यहाँ खड़ा कर दिया! मैं कोई क़ैदी तो हूँ नहीं कि भाग जाऊँगा।

अधिकारियों ने शायद यह व्यवस्था इसलिये कर रक्खी थी कि

कांग्रेसवाले ज़बरदस्ती पंडितजी को वहाँ से भगाने की चेष्टा न कर सकें। कौन जाने, वे क्या चाल चलें। कहीं किसी कुत्ते ही को उन पर छोड़ दें, या दूर से पत्थर फेकने लगें। ऐसे अनुचित और अपमानजनक व्यवहारों से पंडितजी की रक्षा करना अधिकारियों का कर्तव्य था।

वह अभी इसी चिंता में थे कि व्यापारियों का डेपुटेशन आ पहुँचा। पंडितजी कुहनियों के बल लेटे हुए थे, सँभल बैठे। नेताओं ने उनके चरण छूकर कहा—"महाराज, हमारे ऊपर आपने क्यों यह कोप किया है? आपकी जो आज्ञा हो, वह हम शिरोधार्य करें। आप उठिए, अन्न-जल ग्रहण कीजिए। हमें नहीं मालूम था, आप सचमुच यह व्रत ठाननेवाले हैं, नहीं तो हम पहले ही आपसे बिनती करते। अब कृपा कीजिए, १० बजने का समय है। हम आपका वचन कभी न टालेंगे।"

मोटेराम—"ये कांग्रेसवाले तुम्हें मटियामेट करके छोड़ेंगे! आप तो डूबते ही हैं, तुम्हें भी अपने साथ ले डूबेंगे। बाज़ार बंद रहेगा, तो इससे तुम्हारा ही टोटा होगा। सरकार को क्या? तुम नौकरी छोड़ दोगे, आप भूखों मरोगे; सरकार को क्या? तुम जेल जाओगे, आप चक्की पीसोगे; सरकार को क्या? न-जाने इन सबको क्या सनक सवार हो गई है कि अपनी नाक कटाकर दूसरों का असगुन मनाते हैं। तुम इन कुपंथियों के कहने में न आओ। क्यों, दूकानें खुली रक्खोगे?"

सेठ—"महाराज, जब तक शहर-भर के आदमियों की पंचायत न हो जाय, तब तक हम इसका बीमा कैसे ले सकते हैं? कांग्रेसवालों ने कहीं लूट मचवा दी, तो कौन हमारी मदद करेगा? आप उठिए, भोजन पाइए, हम कल पंचायत करके आपकी सेवा में जैसा कुछ होगा, हाल देंगे।"

मोटेराम—"तो फिर पंचायत करके आना।"

डेपुटेशन जब निराश होकर लौटने लगा, तो पंडितजी ने कहा—"किसी के पास सुँघनी तो नहीं है?"

एक महाशय ने डिबिया निकालकर दे दी।

(४)

लोगों के जाने के बाद मोटेराम ने पुलिसवालों से पूछा—"तुम यहाँ क्यों खड़े हो?"

सिपाहियों ने कहा—"साहब का हुक्म है, क्या करें?"

मोटेराम—"यहाँ से चले जाओ।"

सिपाही—"आपके कहने से चले जायँ? कल नौकरी छूट जायगी, तो आप खाने को देंगे?"

मोटेराम—"हम कहते हैं, चले जाओ। नहीं तो हमी यहाँ से चले जायँगे। हम कोई क़ैदी नहीं हैं, जो तुम घेरे खड़े हो।"

सिपाही—"चले क्या जाइएगा, मजाल है।"

मोटेराम—"मजाल क्यों नहीं बे! कोई जुर्म किया है?"

सिपाही—"अच्छा, जाओ तो, देखें।"

पंडितजी ब्रह्म-तेज में आकर उठे, और एक सिपाही को इतने ज़ोर से धक्का दिया कि वह कई कदम पर जा गिरा। दूसरे सिपाहियों की हिम्मत छूट गई। पंडितजी को उन सबने थल-थल समझ लिया था, उनका पराक्रम देखा, तो चुपके से सटक गए।

मोटेराम अब लगे इधर-उधर नज़रें दौड़ाने कि ख़ोंचेवाला नज़र आ जाय, तो उससे कुछ लें। किंतु तुरंत ध्यान आ गया, कहीं उसने किसी से कह दिया, तो? लोग तालियाँ बजाने लगेंगे। नहीं, ऐसी चतुराई से काम करना चाहिए कि किसी को कानोंकान ख़बर न हो। ऐसे ही संकटों में तो बुद्धि-बल का परिचय मिलता है। एक क्षण में उन्होंने इस कठिन प्रश्न को हल कर लिया!

दैवयोग से उसी समय एक ख़ोंचेवाला आता दिखाई दिया। ११ बज चुके थे, चारो तरफ़ सन्नाटा छा गया था। पंडितजी ने बुलाया—"ख़ोंचेवाले, ओ ख़ोंचेवाले!"

खोंचेवाला—"कहिए, क्या दूँ? भूख लग आई न? अन्न-जल छोड़ना साधुओं का काम है, हमारा-आपका काम नहीं।"

पंडित—"अबे, क्या बकता है? यहाँ क्या किसी साधू से कम हैं? चाहें, तो महीनों पड़े रहें, और भूख-प्यास न लगे। तुझे तो केवल इसलिये बुलाया है कि ज़रा अपनी कुप्पी मुझे दे, देखूँ तो, वहाँ क्या रेंग रहा है। मुझे भय होता है, कहीं साँप न हो।"

खोंचेवाले ने कुप्पी उतारकर दे दी। पंडितजी उसे लेकर इधर-उधर ज़मीन पर कुछ खोजने लगे। इतने में कुप्पी उनके हाथ से छूटकर गिर पड़ी, और बुझ गई। सारा तेल बह गया। पंडितजी ने उसमें एक ठोकर और लगाई कि बचा-खुचा तेल भी बह जाय।

खोंचेवाला (कुप्पी को हिलाकर)—"महाराज, इसमें तो ज़रा भी तेल नहीं बचा। अब तक चार पैसे का सौदा बेचता, आपने यह खटराग बढ़ा दिया।"

पंडित—"भैया, हाथ ही तो है, छूट गिरी, तो अब क्या हाथ काट डालूँ? यह लो पैसे, जाकर कहीं से तेल भरा लेओ।"

खोंचेवाला (पैसे लेकर)—"तो अब तेल भरवाकर मैं यहाँ थोड़े ही आऊँगा।"

पंडित—"खोंचा रक्खे जाओ, लपककर थोड़ा तेल ले लो; नहीं मुझे कोई साँप काट लेगा, तो तुम्हीं पर हत्या पड़ेगी। कोई जानवर है ज़रूर। देखो, वह रेंगता है। ग़ायब हो गया। दौड़ जाओ पट्ठे, तेल लेते आओ, मैं तुम्हरा खोंचा देखता रहूँगा। डरते हो, तो अपने रुपए-पैसे लेते जाओ।"

खोंचेवाला बड़े धर्म-संकट में पड़ा। खोंचे से पैसे निकालता है, तो भय है कि पंडितजी अपने दिल में बुरा न मानें कि मुझे बेईमान समझ रहा है। छोड़कर जाता है, तो कौन जाने, इनकी नियत क्या हो। किसी

की नियत सदा ठीक नहीं रहती। अंत को उसने यही निश्चय किया कि ख़ोंचा यहीं छोड़ दूँ, जो कुछ तक़दीर में होगा, वह होगा। वह उधर बाज़ार की तरफ़ चला, इधर पंडितजी ने ख़ोंचे पर निगाह दौड़ाई, तो बहुत हताश हुए। मिठाई बहुत कम बच रही थी। पाँच-छः चीज़ें थीं, मगर किसी में दो अदद से ज़्यादा निकालने की गुंजाइश न थी। भंडा फूट जाने का खटका था। पंडितजी ने सोचा, इतने से क्या होगा? केवल क्षुधा और प्रबल हो जायगी, शेर के मुँह ख़ून लग जायगा! गुनाह बेलज़्ज़त है। अपनी जगह पर आ बैठे। लेकिन दम-भर के बाद प्यास ने फिर ज़ोर किया। सोचे, कुछ तो ढाढ़स हो ही जायगा। आहार कितना ही सूक्ष्म हो, फिर भी आहार ही है। उठे, मिठाई निकाली; पर पहला ही लड्डू मुँह में रक्खा था कि देखा, ख़ोंचेवाला तेल की कुप्पी जलाए, क़दम बढ़ाता चला आ रहा है। उसके पहुँचने के पहले मिठाई का समाप्त हो जाना असंभव था। एक साथ दो चीज़ें मुँह में रक्खी। अभी चबला ही रहे थे कि वह निशाचर दस क़दम और आगे बढ़ आया। एक साथ चार चीज़ें मुँह में डालीं, और अधकुचली ही निगल गए। अभी ६ अदर्दे और थीं, ख़ोंचेवाला फाटक तक आ चुका था। सारी-की-सारी मिठाई मुँह में डाल ली। अब न चबाते बनता है, न उगलते। वह शैतान मोटरकार की तरह कुप्पी चमकाता हुआ चला ही आता था। जब वह बिलकुल सामने आ गया, तो पंडितजी ने जल्दी से सारी मिठाई निगल ली। मगर आख़िर आदमी ही थे, कोई मगर तो थे नहीं, आँखों में पानी भर आया, गला फँस गया, शरीर में रोमांच हो आया, ज़ोर से खाँसने लगे। ख़ोंचेवाले ने तेल की कुप्पी बढ़ाते हुए कहा—"यह लीजिए, देख लीजिए, चले तो हैं आप उपवास करने, पर प्राणों का इतना डर है। आपको क्या चिंता, प्राण भी निकल जायँगे, तो सरकार बाल-बच्चों की परवस्ती करेगी।"

पंडितजी को क्रोध तो ऐसा आया कि इस पाजी को खोटी-खरी सुनाऊँ,

लेकिन गले से आवाज़ न निकली। कुप्पी चुपके से ले ली, और झूठ-मूठ इधर-उधर देखकर लौटा दी।

खोंचेवाला—"आपको क्या पड़ी थी, जो चले सरकार का पच्छ करने? कहीं कल दिन-भर पंचायत होगी, तो रात तक कुछ तय होगा। तब तक तो आपकी आँखों में तितलियाँ उड़ने लगेंगी।"

यह कहकर वह चला गया, और पंडितजी भी थोड़ी देर तक खाँसने के बाद सो रहे।

(५)

दूसरे दिन सबेरे ही व्यापारियों ने मिस्कौट करनी शुरू की। उधर कांग्रेसवालों में भी हलचल मची। अमन-सभा के अधिकारियों ने भी कान खड़े किए। यह तो इन भोले-भाले बनियों को धमकाने की अच्छी तरकीब हाथ आई। पंडित-समाज ने अलग एक सभा की, और उसमें यह निश्चय किया कि पंडित मोटेराम को राजनीतिक मामलों में पड़ने का कोई अधिकार है नहीं। हमारा राजनीति से क्या संबंध? ग़रज़ सारा दिन इसी वाद-विवाद में कट गया, और किसी ने पंडितजी की ख़बर न ली। लोग खुल्लमखुल्ला कहते थे कि पंडितजी ने एक हज़ार रुपए सरकार से लेकर यह अनुष्ठान किया है। बेचारे पंडितजी ने रात तो लोट-पोटकर काटी; पर उठे, तो शरीर मुरदा-सा जान पड़ता था। खड़े होते थे, तो आँखें तिलमिलाने लगती थीं, सिर में चक्कर आ जाता था। पेट में जैसे कोई बैठा हुआ कुरेद रहा हो। सड़क की तरफ़ आँखें लगी हुई थीं कि लोग मनाने तो नहीं आ रहे हैं। संध्योपासन का समय इसी प्रतीक्षा में कट गया। इस समय पूजन के पश्चात् नित्य नाश्ता किया करते थे। आज अभी मुँह में पानी भी न गया था। न-जाने वह शुभ घड़ी कब आवेगी। फिर पंडिताइन पर क्रोध आने लगा। आप तो रात को भर-पेट खाकर सोई होगी, इस वक़्त भी जल-पान कर ही चुकी होगी, पर इधर भूलकर भी न झाँका कि मरे या जीते हैं। कुछ बात करने ही के बहाने से क्या

थोड़ा-सा मोहनभोग बनाकर न ला सकती थी ? पर किसे इतनी चिंता है ? रुपए लेकर रख लिए, फिर जो कुछ मिलेगा, वह भी रख लेगी। मुझे अच्छा उल्लू बनाया !

क़िस्सा-कोताह पंडितजी ने दिन-भर इंतज़ार किया; पर कोई मनानेवाला नज़र न आया। लोगों के दिल में जो यह संदेह पैदा हुआ था कि पंडितजी ने कुछ ले-देकर यह स्वाँग रचा है, स्वार्थ के वशीभूत होकर यह पाखंड खड़ा किया है, वही उनको मनाने में बाधक होता था।

(६)

रात के ६ बज गए थे। सेठ भोंदूमल ने, जो व्यापारी-समाज के नेता थे, निश्चयात्मक भाव से कहा—"मान लिया, पंडितजी ने स्वार्थ-वश ही यह अनुष्ठान किया है; पर इससे वह कष्ट तो कम नहीं हो सकता, जो अन्न-जल के विना प्राणी-मात्र को होता है। यह धर्म-विरुद्धहै कि एक ब्राह्मण हमारे ऊपर दाना-पानी त्याग दे, और हम पेट भर-भरकर चैन की नींद सोवें। अगर उन्होंने धर्म के विरुद्ध आचरण किया है, तो उसका दंड उन्हें भोगना पड़ेगा। हम क्यों अपने कर्तव्य से मुँह फेरें ?"

कांग्रेस के मंत्री ने दबी हुई आवाज़ से कहा—"मुझे तो जो कुछ कहना था, वह मैं कह चुका। आप लोग समाज के नेता हैं, जो फ़ैसला कीजिए, हमें मंज़ूर है। चलिए, मैं भी आपके साथ चला चलूँगा। धर्म का कुछ अंश मुझे भी मिल जायगा। पर एक बिनती सुन लीजिए। आप लोग पहले मुझे वहाँ जाने दीजिए। मै एकांत में उनसे दस मिनट बातें करना चाहता हूँ। आप लोग फाटक पर खड़े रहिएगा। जब मैं वहाँ से लौट आऊँ, तो फिर जाइएगा।" इसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती थी ? प्रार्थना स्वीकृत हो गई।

मंत्रीजी पुलिस-विभाग में बहुत दिनों तक रह चुके थे, मानव-चरित्र की कमज़ोरियों को जानते थे। वह सीधे बाज़ार गए, और ५) की मिठाई ली। उसमें मात्रा से अधिक सुगंध डालने का प्रयत्न किया, चाँदी

के वरक़ लगवाए, और एक दोने में लेकर रूठे हुए ब्रह्म-देव की पूजा करने चले। एक झज्झर में ठंडा पानी लिया और उसमें केवड़े का जल मिलाया। दोनो ही चीज़ों से ख़ुशबू की लपटें उड़ रही थीं। सुगंध में कितनी उत्तेजक शक्ति है, कौन नहीं जानता। इससे विना भूख की भूख लग आती है; भूखे आदमी की तो बात ही क्या ?

पंडितजी इस समय भूमि पर अचेत पड़े हुए थे। रात को कुछ नहीं मिला। दस-पाँच छोटी-छोटी मिठाइयों का क्या ज़िक्र। दोपहर को कुछ नहीं मिला, और इस वक़्त भी भोजन की बेला टल गई थी। भूख में अब आशा की व्याकुलता नहीं, निराशा की शिथिलता थी। सारे अंग ढीले पड़ गए थे। यहाँ तक कि आँखें भी न खुलती थीं। उन्हें खोलने की बार-बार चेष्टा करते, पर वे आप-ही-आप बंद हो जातीं। ओठ सूख गए थे। जिंदगी का कोई चिह्न था, तो बस उनका धीरे-धीरे कराहना। ऐसा घोर संकट उनके ऊपर कभी न पड़ा था। अजीर्ण की शिकायत तो उन्हें महीने में दो-चार बार हो जाती थी, जिसे वह हड़ आदि की फंकियों से शांत कर लिया करते थे; पर अजीर्णावस्था में ऐसा कभी न हुआ था कि उन्होंने भोजन छोड़ दिया हो। नगर-निवासियों को, अमन-सभा को, सरकार को, ईश्वर को, कांग्रेस को और धर्मपत्नी को जी भरकर कोस चुके थे। किसी से कोई आशा न थी। अब इतनी शक्ति भी न रही थी कि स्वयं खड़े होकर बाज़ार जा सकें। निश्चय हो गया था कि आज रात को अवश्य प्राणपखेरू उड़ जायँगे। जीवन-सूत्र कोई रस्सी तो है नहीं कि चाहे जितने झटके दो, टूटने का नाम न ले।

मंत्रीजी ने पुकारा—"शास्त्रीजी!" मोटेराम ने पड़े-पड़े आँखें खोल दीं। उनमें ऐसी करुण वेदना भरी हुई थी, जैसे किसी बालक के हाथ से कौआ मिठाई छीन ले गया हो।

मंत्रीजी ने दोने की मिठाई सामने रख दी, और झज्झर पर कुल्हड़ औंधा दिया। इस काम से सुचित्त होकर बोले—"यहाँ कब तक पड़े रहिएगा ?"

सुगंध ने पंडितजी की इंद्रियों पर संजीवनी का काम किया। पंडितजी उठ बैठे, और बोले—"देखें, कब तक निश्चय होता है।"

मंत्री—"यहाँ कुछ निश्चय-विश्चय न होगा। आज दिन-भर पंचायत हुआ की, कुछ तय न हुआ। कल कहीं शाम को लाट साहब आवेंगे। तब तक तो आपकी न-जाने क्या दशा होगी। आपका चेहरा बिलकुल पीला पड़ गया है।"

मोटेराम—"यहीं मरना बदा होगा, तो कौन टाल सकता है? इस दोने में क़लाकंद है क्या?"

मंत्री—"हाँ, तरह-तरह की मिठाइयाँ हैं। एक नातेदार के यहाँ बैना भेजने के लिये विशेष रीति से बनवाई हैं।"

मोटेराम—"जभी इनमें इतनी सुगंध है। ज़रा दोना खोलिए तो।" मंत्री ने मुस्किराकर दोना खोल दिया, और पंडितजी नेत्रों से मिठाइयाँ खाने लगे। अंधा आँखें पाकर भी संसार को ऐसे तृष्णा-पूर्ण नेत्रों से न देखेगा। मुँह में पानी भर आया। मंत्रीजी ने कहा—"आपका व्रत न होता, तो दो-चार मिठाइयाँ आपको चखाता। ५) सेर के दाम दिए हैं।"

मोटेराम—तब तो बहुत ही श्रेष्ठ होंगी। मैंने बहुत दिन हुए, क़लाक़ंद नहीं खाया।"

मंत्री—आपने भी तो बैठे-बिठाए झंझट मोल ले लिया। प्राण ही न रहेंगे, तो धन किस काम आवेगा?"

मोटेराम—"क्या करूँ, फँस गया। मैं इतनी मिठाइयों का जल-पान कर जाता था। (हाथ से मिठाइयों को टटोलकर) भोला की दूकान की होंगी?"

मंत्री—"चखिए, दो-चार।"

मोटेराम—"क्या चक्खूँ, संकट में पड़ा हूँ।"

मंत्री—"अजी, चखिए भी। इस समय जो आनंद प्राप्त होगा, वह लाख रुपए में भी नहीं मिल सकता। कोई किसी से कहने जाता है क्या?"

मोटेराम—"मुझे भय किसका है? मैं यहाँ दाना-पानी बिना मर रहा हूँ, और किसी को परवा ही नहीं। तो फिर मुझे क्या डर? लाओ, इधर दोना बढ़ाओ। जाओ, सबसे कह देना, शास्त्रीजी ने व्रत तोड़ दिया। भाड़ में जाय बाज़ार और व्यापार! यहाँ किसी की चिंता नहीं। जब किसी में धर्म नहीं रहा, तो मैंने ही धर्म का बीड़ा थोड़े उठाया है।"

यह कहकर पंडितजी ने दोना अपनी तरफ़ खींच लिया, और लगे बढ़-बढ़कर हाथ मारने। यहाँ तक कि एक पल-भर में आधा दोना समाप्त हो गया। सेठ लोग आकर फाटक पर खड़े थे। मंत्री ने जाकर कहा—"ज़रा चलकर तमाशा देखिए। आप लोगों को न बाज़ार खोलना पड़ेगा, न ख़ुशामद करनी पड़ेगी। मैंने सारी समस्याएँ हल कर दीं। यह कांग्रेस का प्रताप है।"

चाँदनी छिटकी हुई थी। लोगों ने आकर देखा, पंडितजी मिठाई ठिकाने लगाने में वैसे ही तन्मय हो रहे हैं, जैसे कोई महात्मा समाधि में मग्न हो।

भोंदूमल ने कहा—"पंडितजी के चरण छूता हूँ। हम लोग तो आ ही रहे थे, आपने क्यों जल्दी की? ऐसी जुगत बताते कि आपकी प्रतिज्ञा भी न टूटती, और कार्य भी सिद्ध हो जाता।"

मोटेराम—"मेरा काम सिद्ध हो गया। यह अलौकिक आनंद है; जो धन के ढेरों से नहीं प्राप्त हो सकता। अगर कुछ श्रद्धा हो, तो इसी दूकान की इतनी ही मिठाई और मँगवा दो *।"

---

* हम यह कहना भूल गए कि मंत्रीजी को मिठाई लेकर मैदान में आते समय पुलिस के सिपाही को ।) पैसे देने पड़े थे। यह नियम-विरुद्ध था; लेकिन मंत्री ने इस बात पर अड़ना उचित न समझा।— लेखक

गृह-दाह

(१)

सत्यप्रकाश के जन्मोत्सव में लाला देवप्रकाश ने बहुत ख़र्च किए थे। उसका विद्यारंभ-संस्कार भी खूब धूमधाम से किया गया। उसके हवा खाने को एक छोटी-सी गाड़ी थी। शाम को नौकर उसे टहलाने ले जाता। एक नौकर उसे पाठशाला पहुँचाने जाता; दिन-भर वहीं बैठा रहता और उसे साथ लेकर घर आता था। कितना सुशील, होनहार बालक था! गोरा मुखड़ा, बड़ी-बड़ी आँखें, ऊँचा मस्तक, पतले-पतले लाल अधर, भरे हुए हाथ-पाँव। उसे देखकर सहसा मुँह से निकल पड़ता था—"भगवान् इसे जिला दे, प्रतापी मनुष्य होगा।" उसकी बाल-बुद्धि की प्रखरता पर लोगों को आश्चर्य होता था। नित्य उसके मुख-चंद्र पर हँसी खेलती रहती थी। किसी ने उसे हठ करते या रोते नहीं देखा।

वर्षा के दिन थे। देवप्रकाश बहन को लेकर गंगा-स्नान करने गए। नदी खूब चढ़ी हुई थी, मानो अनाथ की आँखें हों। उसकी पत्नी निर्मला जल में बैठकर क्रीड़ा करने लगी। कभी आगे जाती, कभी पीछे जाती, कभी डुबकी मारती, कभी अंजुलियों से छींटे उड़ाती। देवप्रकाश ने कहा—"अच्छा, अब निकलो, नहीं तो सरदी हो जायगी।" निर्मला ने कहा—"कहो, तो मैं छाती तक पानी में चली जाऊँ?"

देवप्रकाश—"और, जो कहीं पैर फिसल जाय!"

निर्मला—"पैर क्या फिसलेगा!"

यह कहकर वह छाती तक पानी में चली गई। पति ने कहा—"अच्छा, अब आगे पैर न रखना।" किंतु निर्मला के सिर पर मौत खेल रही थी। यह जल-क्रीड़ा नहीं—मृत्यु-क्रीड़ा थी। उसने एक

पग और आगे बढ़ाया, और फिसल गई। मुँह से एक चीख निकली दोनो हाथ सहारे के लिये ऊपर उठे और फिर जल-मग्न हो गए। एक पल में प्यासी नदी उसे पी गई। देवप्रकाश खड़े तौलिए से देह पोंछ रहे थे। तुरंत पानी में कूदे, साथ का कहार भी कूदा। दो मल्लाह भी कूद पड़े। सबने डुबकियाँ मारीं, टटोला; पर निर्मला का पता न चला तब डोंगी मँगवाई गई। मल्लाहों ने बार-बार गोते मारे; पर लाश हाथ न आई। देवप्रकाश शोक में डूबे हुए घर आए। सत्यप्रकाश किसी उपहार की आशा में दौड़ा। पिता ने गोद में उठा लिया, और बहुत यत्न करने पर भी अपनी सिसकी न रोक सके। सत्यप्रकाश ने पूछा—
"अम्मा कहाँ हैं ?"

देव०—"बेटा, गंगा ने उन्हें नेवता खाने के लिये रोक लिया।"

सत्यप्रकाश ने उनके मुख की ओर जिज्ञासा-भाव से देखा, और आशय समझ गया। 'अम्मा' कहकर रोने लगा।

(२)

मातृ-हीन बालक संसार का सबसे करुणा-जनक प्राणी है। दीन-से-दीन प्राणियों को भी ईश्वर का आधार होता है, जो उनके हृदय को सँभालता रहता है। मातृ-हीन बालक इस आधार से भी वंचित होता है। माता ही उसके जीवन का एकमात्र आधार होती है। माता के बिना वह पंख-हीन पक्षी है।

सत्यप्रकाश को एकांत से प्रेम हो गया। अकेले बैठा रहता। वृक्षों में उसे उस सहानुभूति का कुछ-कुछ अज्ञात अनुभव होता था, जो घर के प्राणियों में उसे न मिलती थी। माता का प्रेम था, तो सभी प्रेम करते थे; माता का प्रेम उठ गया, तो सभी निष्ठुर हो गए। पिता की आँखों में भी वह प्रेम-ज्योति न रही। दरिद्र को कौन भिक्षा देता है ?

छ महीने बीत गए। सहसा एक दिन उसे मालूम हुआ, मेरी नई

माता आनेवाली हैं। दौड़ा हुआ पिता के पास गया, और पूछा—"क्या मेरी नई माता आवेंगी ?" पिता ने कहा—"हाँ, बेटा, वह आकर तुम्हें प्यार करेंगी।"

सत्य०—"क्या मेरी मा स्वर्ग से आ जायँगी ?"

देव०—"हाँ, वही आ जायँगी।"

सत्य०—"मुझे उसी तरह प्यार करेंगी ?"

देवप्रकाश इसका क्या उत्तर देते। मगर सत्यप्रकाश उस दिन से प्रसन्न-मन रहने लगा। अम्मा आवेंगी ! मुझे गोद में लेकर प्यार करेंगी ! अब मैं कभी दिक न करूँगा, कभी ज़िद न करूँगा, अच्छी-अच्छी कहानियाँ सुनाया करूँगा।

विवाह के दिन आए। घर में तैयारियाँ होने लगीं। सत्यप्रकाश ख़ुशी से फूला न समाता। मेरी नई अम्मा आवेंगी। बारात में वह भी गया। नए-नए कपड़े मिले। पालकी पर बैठा। नानी ने अंदर बुलाया, और उसे गोद में लेकर एक अशरफ़ी दी। वहीं उसे नई माता के दर्शन हुए। नानी ने नई माता से कहा—"बेटी, कैसा सुंदर बालक है ! इसे प्यार करना।"

सत्यप्रकाश ने नई माता को देखा, और मुग्ध हो गया। बच्चे भी रूप के उपासक होते हैं। एक लावण्यमयी मूर्ति आभूषणों से लदी सामने खड़ी थी। उसने दोनो हाथों से उसका अंचल पकड़कर कहा—"अम्मा !"

कितना अरुचिकर शब्द था, कितना लज्जा-युक्त, कितना अप्रिय ! वह ललना, जो 'देवप्रिया' नाम से संबोधित होती थी, उत्तरदायित्व, त्याग और क्षमा का संबोधन न सह सकी। अभी वह प्रेम और विलास का सुख-स्वप्न देख रही थी—यौवन-काल की मदमय वायु-तरंगों में आंदोलित हो रही थी। इस शब्द ने उसके स्वप्न को भंग कर दिया। कुछ रुष्ट होकर बोली—"मुझे अम्मा मत कहो।"

सत्यप्रकाश ने विस्मित नेत्रों से देखा। उसका बाल-स्वप्न भंग हो

गया। आँखें डबडबा आईं। नानी ने कहा—"बेटी, देखो, लड़के का दिल छोटा हो गया। वह क्या जाने, क्या कहना चाहिए। अम्मा कह दिया, तो तुम्हें कौन-सी चोट लग गई ?"

देवप्रिया ने कहा—"मुझे अम्मा न कहे।"

(३)

सौत का पुत्र विमाता की आँखों में क्यों इतना खटकता है, इसका निर्णय आज तक किसी मनोभाव के पंडित ने नहीं किया। हम किस गिनती में हैं। देवप्रिया जब तक गर्भिणी न हुई, वह सत्यप्रकाश से कभी-कभी बातें करती, कहानियाँ सुनाती ; किंतु गर्भिणी होते ही उसका व्यवहार कठोर हो गया। प्रसव-काल ज्यों-ज्यों निकट आता था, उसकी कठोरता बढ़ती ही जाती थी। जिस दिन उसकी गोद में एक चाँद-से बच्चे का आगमन हुआ, सत्यप्रकाश ख़ूब उछला-कूदा, और सौर-गृह में दौड़ा हुआ बच्चे को देखने गया। बच्चा देवप्रिया की गोद में सो रहा था। सत्यप्रकाश ने बड़ी उत्सुकता से बच्चे को विमाता की गोद से उठाना चाहा। सहसा देवप्रिया ने सरोष स्वर में कहा—"ख़बरदार, इसे मत छूना, नहीं तो कान पकड़कर उखाड़ लूँगी।"

बालक उल्टे पाँव लौट आया, और कोठे की छत पर जाकर ख़ूब रोया। कितना सुंदर बच्चा है ! मैं उसे गोद में लेकर बैठता, तो कैसा मज़ा आता ! मैं उसे गिराता थोड़े ही, फिर इन्होंने मुझे झिड़क क्यों दिया ? भोला बालक क्या जानता था कि इस झिड़की का कारण माता की सावधानी नहीं, कुछ और है।

शिशु का नाम ज्ञानप्रकाश रक्खा गया था। एक दिन वह सो रहा था। देवप्रिया स्नानागार में थी। सत्यप्रकाश चुपके-से आया, और बच्चे का ओढ़ना हटाकर उसे अनुरागमय नेत्रों से देखने लगा। उसका जी कितना चाहा कि उसे गोद में लेकर प्यार करूँ ; पर डर के मारे उसने उसे उठाया नहीं, केवल उसके कपोलों को चूमने लगा। इतने में देवप्रिया

निकल आई। सत्यप्रकाश को बच्चे को चूमते देखकर आग हो गई। दूर ही से डाँटा—"हट जा वहाँ से!"

सत्यप्रकाश दीन नेत्रों से माता को देखता हुआ बाहर निकल आया।

संध्या-समय उसके पिता ने पूछा—"तुम लल्ला को क्यों रुलाया करते हो?"

सत्य०—"मैं तो उसे कभी नहीं रुलाता। अम्मा खेलाने को नहीं देतीं।"

देव०—"झूठ बोलते हो, आज तुमने बच्चे को चुटकी काटी।"

सत्य०—"जी नहीं, मैं तो उसकी मुच्छियाँ ले रहा था।"

देव०—"झूठ बोलता है!"

देवप्रकाश को क्रोध आ गया। लड़के को दो-तीन तमाचे लगाए। पहली बार यह ताड़ना मिली, और निरपराध! इसने उसके जीवन की काया-पलट कर दी।

(४)

उस दिन से सत्यप्रकाश के स्वभाव में एक विचित्र परिवर्तन दिखाई देने लगा। वह घर में बहुत कम आता; पिता आते, तो उनसे मुँह छिपाता फिरता। कोई खाना खाने को बुलाने आता, तो चोरों की भाँति दबकता हुआ जाकर खा लेता; कुछ माँगता, न कुछ बोलता। पहले अत्यंत कुशाग्र-बुद्धि था, उसकी सफ़ाई, सलीके और फुरती पर लोग मुग्ध हो जाते थे। अब वह पढ़ने से जी चुराता, मैले-कुचैले कपड़े पहने रहता। घर में कोई प्रेम करनेवाला न था! बाज़ार के लड़कों के साथ गली-गली घूमता, कनकौए लूटता। गालियाँ बकना भी सीख गया। शरीर दुर्बल हो गया। चेहरे की कांति ग़ायब हो गई। देवप्रकाश को अब आए दिन उसकी शरारतों के उलहने मिलने लगे, और सत्यप्रकाश नित्य घुड़कियाँ और तमाचे खाने लगा। यहाँ तक कि अगर वह कभी घर में किसी काम से चला जाता, तो सब लोग 'दूर-दूर' कहकर दौड़ते।

ज्ञानप्रकाश को पढ़ाने के लिये मास्टर आता था। देवप्रकाश उसे रोज़ सैर कराने साथ ले जाते। हँसमुख लड़का था। देवप्रिया उसे सत्य-प्रकाश के साए से भी बचाती रहती थी। दोनो लड़कों में कितना अंतर था! एक साफ़-सुथरा, सुंदर कपड़े पहने, शील और विनय का पुतला, सच बोलनेवाला; देखनेवालों के मुँह से अनायास ही दुआ निकल आती थी। दूसरा मैला, नटखट, चोरों की तरह मुँह छिपाए हुए, मुँहफट, बात-बात पर गालियाँ बकनेवाला। एक हरा-भरा पौदा, प्रेम में प्लावित, स्नेह से सिंचित; दूसरा सूखा हुआ, टेढ़ा, पल्लव-हीन नव वृक्ष, जिसकी जड़ों को एक मुद्दत से पानी नहीं नसीब हुआ। एक को देखकर पिता की छाती ठंडी होती; दूसरे को देखकर देह में आग लग जाती।

आश्चर्य यह था कि सत्प्रकाश को अपने छोटे भाई से लेश-मात्र भी ईर्ष्या न थी। अगर उसके हृदय में कोई कोमल भाव शेष रह गया था, तो वह ज्ञानप्रकाश के प्रति स्नेह था। उस मरुभूमि में यही एक हरियाली थी। ईर्ष्या साम्य-भाव की द्योतक है। सत्यप्रकाश अपने भाई को अपने से कहीं ऊँचा, कहीं भाग्यशाली समझता। उसमें ईर्ष्या का भाव ही लोप हो गया था।

घृणा से घृणा उत्पन्न होती है, प्रेम से प्रेम। ज्ञानप्रकाश भी बड़े भाई को चाहता था। कभी-कभी उसका पक्ष लेकर अपनी मा से वाद-विवाद कर बैठता। कहता—"भैया की अचकन फट गई है, आप नई अचकन क्यों नहीं बनवा देतीं?" मा उत्तर देती—"उसके लिये वही अचकन अच्छी है। अभी क्या, अभी तो वह नंगा फिरेगा।" ज्ञानप्रकाश बहुत चाहता था कि अपनी जेब-ख़र्च से बचाकर कुछ अपने भाई को दे, पर सत्यप्रकाश कभी इसे स्वीकार न करता। वास्तव में जितनी देर वह छोटे भाई के साथ रहता, उतनी देर उसे एक शांतिमय आनंद का अनु-भव होता। थोड़ी देर के लिये वह सद्भावों के साम्राज्य में विचरने

लगता। उसके मुख से कोई भद्दी और अप्रिय बात न निकलती। एक क्षण के लिये उसकी सोई हुई आत्मा जाग उठती।

एक बार कई दिन तक सत्यप्रकाश मदरसे न गया। पिता ने पूछा—"तुम आजकल पढ़ने क्यों नहीं जाते? क्या सोच रक्खा है कि मैंने तुम्हारी ज़िंदगी-भर का ठेका ले रक्खा है?"

सत्य०—"मेरे ऊपर जुर्माने और फ़ीस के कई रुपए हो गए हैं। जाता हूँ, तो दरजे से निकाल दिया जाता हूँ।"

देव०—"फ़ीस क्यों बाकी है? तुम तो महीने-महीने ले लिया करते हो न?"

सत्य०—"आए दिन चंदे लगा करते हैं। फ़ीस के रुपए चंदे में दे दिए।"

देव०—"और जुर्माना क्यों हुआ?"

सत्य०—"फ़ीस न देने के कारण।"

देव०—"तुमने चंदा क्यों दिया?"

सत्य०—ज्ञानू ने चंदा दिया, तो मैंने भी दिया।"

देव०—"तुम ज्ञानू से जलते हो?"

सत्य०—"मैं ज्ञानू से क्यों जलने लगा? यहाँ हम और वह दो हैं, बाहर हम और वह एक समझे जाते हैं। मैं यह नहीं कहना चाहता कि मेरे पास कुछ नहीं है।"

देव०—"क्यों, यह कहते शर्म आती है?"

सत्य०—"जी हाँ, आपकी बदनामी होगी।"

देव०—"अच्छा, तो आप मेरी मान-रक्षा करते हैं! यह क्यों नहीं कहते कि पढ़ना अब मंज़ूर नहीं है। मेरे पास इतना रुपया नहीं कि तुम्हें एक-एक क्लास में तीन-तीन साल पढ़ाऊँ; ऊपर से तुम्हारे खर्च के लिये भी प्रति मास कुछ दूँ। ज्ञान बाबू तुमसे कितना छोटा है, लेकिन तुमसे एक ही दफ़ा नीचे है। तुम इस साल ज़रूर ही फ़ेल होगे; वह

ज़रूर ही पास होगा। अगले साल तुम्हारे साथ हो जायगा। तब तो तुम्हारे मुँह में कालिख लगेगी न।"

सत्य०—"विद्या मेरे भाग्य ही में नहीं है।"

देव०—तुम्हारे भाग्य में क्या है?"

सत्य०—"भीख माँगना।"

देव०—"तो फिर भीख ही माँगो। मेरे घर से निकल जाओ।"

देवप्रिया भी आ गई। बोली—"शरमाता तो नहीं, और बातों का जवाब देता है।"

सत्य०—"जिनके भाग्य में भीख माँगना होता है, वे ही बचपन में अनाथ हो जाते हैं।"

देवप्रिया—"ये जली-कटी बातें अब मुझसे न सही जायँगी। मैं ख़ून का घूँट पी-पीकर रह जाती हूँ।"

देवप्रकाश—"बेहया है। कल से इसका नाम कटवा दूँगा। भीख माँगनी है, तो भीख ही माँगे।"

(५)

दूसरे दिन सत्यप्रकाश ने घर से निकलने की तैयारी कर दी। उसकी उम्र अब १६ साल की हो गई थी। इतनी बातें सुनने के बाद उसे उस घर में रहना असह्य हो गया था। जब तक हाथ-पाँव न थे, किशोरावस्था की असमर्थता थी, तब तक अवहेलना, निरादर, निष्ठुरता, भर्त्सना, सब कुछ सहकर घर में रहता रहा। अब हाथ-पाँव हो गए थे, उस बंधन में क्यों रहता। आत्माभिमान आशा की भाँति चिरजीवी होता है।

गरमी के दिन थे। दोपहर का समय। घर के सब प्राणी सो रहे थे। सत्यप्रकाश ने अपनी धोती बगल में दबाई; एक छोटा-सा बैग हाथ में लिया, और चाहता था कि चुपके से बैठक से निकल जाय कि ज्ञानू आ गया, और उसे जाने को तैयार देखकर बोला—"कहाँ जाते हो, भैया?"

सत्य०—"जाता हूँ कहीं नौकरी करूँगा।"

ज्ञानू—"मैं जाकर अम्मा से कहे देता हूँ।"

सत्य०—"तो फिर मैं तुमसे भी छिपकर चला जाऊँगा।"

ज्ञानू—"क्यों चले जाओगे? तुम्हें मेरी ज़रा भी मुहब्बत नहीं?"

सत्यप्रकाश ने भाई को गले लगाकर कहा—"तुम्हें छोड़कर जाने को जी तो नहीं चाहता; लेकिन जहाँ कोई पूछनेवाला नहीं है, वहाँ पड़े रहना बेहयाई है। कहीं दस-पाँच की नौकरी कर लूँगा, और पेट पालता रहूँगा; और किस लायक़ हूँ?"

ज्ञानू—"तुमसे अम्मा क्यों इतना चिढ़ती हैं? मुझे तुमसे मिलने को मना किया करती हैं।"

सत्य०—"मेरे नसीब खोटे हैं, और क्या।"

ज्ञानू—"तुम लिखने-पढ़ने में जी नहीं लगाते?"

सत्य०—"लगता ही नहीं, कैसे लगाऊँ? जब कोई परवा नहीं करता, तो मैं भी सोचता हूँ—उँह यही न होगा, ठोकर खाऊँगा। बला से!"

ज्ञानू—"मुझे भूल तो न जाओगे? मैं तुम्हारे पास ख़त लिखा करूँगा। मुझे भी एक बार अपने यहाँ बुलाना।"

सत्यप्रकाश—"तुम्हारे स्कूल के पते से चिट्ठी लिखूँगा।"

ज्ञानू—(रोते-रोते) "मुझे न-जाने क्यों तुम्हारी बड़ी मुहब्बत लगती है।"

सत्यप्रकाश—"मैं तुम्हें सदैव याद रक्खूँगा।"

यह कहकर उसने फिर भाई को गले लगाया, और घर से निकल पड़ा। पास एक कौड़ी भी न थी, और वह कलकत्ते जा रहा था!

(६)

सत्यप्रकाश कलकत्ते क्योंकर पहुँचा, इसका वृत्तांत लिखना व्यर्थ है। युवकों में दुस्साहस की मात्रा अधिक होती है। वे हवा में क़िले बना सकते हैं—धरती पर नाव चला सकते हैं। कठिनाइयों की उन्हें कुछ परवा नहीं होती। अपने ऊपर असीम विश्वास होता है। कलकत्ते पहुँचना ऐसा

कष्ट-साध्य न था। सत्यप्रकाश चतुर युवक था। पहले ही उसने निश्चय कर लिया था कि कलकत्ते में क्या करूँगा, कहाँ रहूँगा। इसके बैग में लिखने की सामग्री मौजूद थी। बड़े शहरों में जीविका का प्रश्न कठिन भी है, और सरल भी। सरल है उनके लिये, जो हाथ से काम कर सकते हैं; कठिन है उनके लिये, जो क़लम से काम करते हैं। सत्यप्रकाश मज़दूरी करना नीच काम समझता था। उसने एक धर्मशाला में असबाब रक्खा। बाद को शहर के मुख्य-मुख्य स्थानों का निरीक्षण कर एक डाक-घर के सामने लिखने का सामान लेकर बैठ गया, और अपढ़ मज़दूरों की चिट्ठियाँ, मनीऑर्डर आदि लिखने का व्यवसाय करने लगा। पहले कई दिन तो उसे इतने पैसे भी न मिले कि भर-पेट भोजन करता, लेकिन धीरे-धीरे आमदनी बढ़ने लगी। वह मज़दूरों से इतने विनय के साथ बातें करता, और उनके समाचार इतने विस्तार से लिखता कि बस, वे पत्र को सुनकर बहुत प्रसन्न होते। अशिक्षित लोग एक ही बात को दो-दो, तीन-तीन बार लिखाते हैं। उनकी दशा ठीक उन रोगियों की-सी होती है, जो वैद्य से अपनी व्यथा और वेदना का वृत्तांत कहते नहीं थकते। सत्यप्रकाश सूत्र को व्याख्या का रूप देकर मज़दूरों को मुग्ध कर देता था। एक संतुष्ट होकर जाता, तो अपने कई अन्य भाइयों को खोज लाता। एक ही महीने में उसे १) रोज़ मिलने लगा। उसने धर्मशाला से निकलकर शहर से बाहर ५) महीने पर एक छोटी-सी कोठरी ले ली। एक वक्त बनाता, दोनो वक्त खाता। बर्तन अपने हाथों से धोता। ज़मीन पर सोता। उसे अपने निर्वासन पर ज़रा भी खेद और दुःख न था। घर के लोगों की कभी याद न आती। वह अपनी दशा पर संतुष्ट था। केवल ज्ञानप्रकाश की प्रेम-युक्त बातें न भूलतीं। अंधकार में यही एक प्रकाश था। बिदाई का अंतिम दृश्य आँखों के सामने फिरा करता। जीविका से निश्चिंत होकर उसने ज्ञानप्रकाश को एक पत्र लिखा। उत्तर आया। उसके आनंद की सीमा न रही। ज्ञानू मुझे याद करके रोता है, मेरे पास आना चाहता है, स्वास्थ्य भी अच्छा

नहीं है। प्यासे को पानी से जो तृप्ति होती है, वही तृप्ति इस पत्र से सत्यप्रकाश को हुई। मैं अकेला नहीं हूँ, कोई मुझे भी चाहता है—मुझे भी याद करता है।

उस दिन से सत्यप्रकाश को यह चिंता हुई कि ज्ञानू के लिये कोई उपहार भेजूँ। युवकों को मित्र बहुत जल्द मिल जाते हैं।

सत्यप्रकाश की भी कई युवकों से मित्रता हो गई थी। उनके साथ कई बार सिनेमा देखने गया। कई बार बूटी-भंग, शराब-क़बाब की भी ठहरी। आईना, तेल, कंघी का शौक़ भी पैदा हुआ, जो कुछ पाता, उड़ा देता; बड़े वेग से नैतिक पतन और शारीरिक विनाश की ओर दौड़ा चला जाता था। इस प्रेम-पत्र ने उसके पैर पकड़ लिए। उपहार के प्रयास ने इन दुर्व्यसनों को तिरोहित करना शुरू किया। सिनेमा का चसका छूटा, मित्रों को हीले-हवाले करके टालने लगा। भोजन भी रूखा-सूखा करने लगा। धन-संचय की चिंता ने सारी इच्छाओं को परास्त कर दिया। उसने निश्चय किया कि एक अच्छी-सी घड़ी भेजूँ। उसका दाम कम-से-कम ४०) होगा। अगर तीन महीने तक एक कौड़ी का भी अपव्यय न करूँ, तो घड़ी मिल सकती है। ज्ञानू घड़ी देखकर कैसा ख़ुश होगा। अम्मा और बाबूजी भी देखेंगे। उन्हें मालूम हो जायगा कि मैं भूखों नहीं मर रहा हूँ। किफ़ायत की धुन में वह बहुधा दिया-बत्ती भी न करता। बड़े सबेरे काम करने चला जाता, और सारे दिन दो-चार पैसे की मिठाई खाकर काम करता रहता। उसके ग्राहकों की संख्या दिन-दूनी होती जाती थी। चिट्ठी-पत्री के अतिरिक्त अब उसने तार लिखने का भी अभ्यास कर लिया था। दो महीने में उसके पास ५०) एकत्र हो गए; और जब घड़ी के साथ सुनहरी चेन का पारसल बनाकर ज्ञानू के नाम भेज दिया, तो उसका चित्त इतना उत्साहित था, मानो किसी निस्संतान के बालक हुआ हो।

(७)

'घर' कितनी ही कोमल, पवित्र, मनोहर स्मृतियों को जाग्रत् कर देता है ! यह प्रेम का निवास-स्थान है । प्रेम ने बहुत तपस्या करके यह वरदान पाया है ।

किशोरावस्था में 'घर' माता-पिता, भाई-बहन, सखी-सहेली के प्रेम की याद दिलाता है ; प्रौढ़ावस्था में गृहिणी और बाल-बच्चों के प्रेम की यही वह लहर है, जो मानव-जीवन-मात्र को स्थिर रखती है, उसे समुद्र की वेगवती लहरों में बहने और चट्टानों से टकराने से बचाती है । यही वह मंडप है, जो जीवन को समस्त विघ्न-बाधाओं से सुरक्षित रखता है ।

सत्यप्रकाश का घर कहाँ था ? वह कौन-सी शक्ति थी, जो कलकत्ते के विराट् प्रलोभनों से उसकी रक्षा करती थी ? माता का प्रेम, पिता का स्नेह, बाल-बच्चों की चिंता ? नहीं, उसका रक्षक, उद्धारक, उसका पारितोषिक केवल ज्ञानप्रकाश का स्नेह था । उसी के निमित्त वह एक-एक पैसे की किफ़ायत करता । उसी के लिये वह कठिन परिश्रम करता—धनोपार्जन के नए-नए उपाय सोचता । उसे ज्ञानप्रकाश के पत्रों से मालूम हुआ था कि इन दिनों देवप्रकाश की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं । वह एक घर बनवा रहे हैं, जिसमें व्यय अनुमान से अधिक हो जाने के कारण ऋण लेना पड़ा है; इसलिये अब ज्ञानप्रकाश को पढ़ाने के लिये घर पर मास्टर नहीं आता । तब से सत्यप्रकाश प्रतिमास ज्ञानू के पास कुछ-न-कुछ अवश्य भेज देता था । वह अब केवल पत्र-लेखक न था, लिखने के सामान की एक छोटी-सी दूकान भी उसने खोल ली थी । इससे अच्छी आमदनी हो जाती थी । इस तरह पाँच वर्ष बीत गए । रसिक मित्रों ने जब देखा, अब यह हत्थे नहीं चढ़ता, तो उसके पास आना - जाना छोड़ दिया ।

(८)

संध्या का समय था । देवप्रकाश अपने मकान में बैठे देवप्रिया से ज्ञान-प्रकाश के विवाह के संबंध में बातें कर रहे थे । ज्ञानू अब १७ वर्ष का

सुंदर युवक था। बाल-विवाह के विरोधी होने पर भी देवप्रकाश अब इस शुभ मुहूर्त को न टाल सकते थे। विशेषतः जब कोई महाशय ५,०००) दायज देने को प्रस्तुत हों।

देवप्रकाश—"मैं तो तैयार हूँ, लेकिन तुम्हारा लड़का भी तो तैयार हो।"

देवप्रिया—"तुम बातचीत पक्की कर लो, वह तैयार हो ही जायगा। सभी लड़के पहले 'नहीं' करते हैं।"

देवप्रकाश—"ज्ञानू का इनकार केवल संकोच का इनकार नहीं, यह सिद्धांत का इनकार है। वह साफ़-साफ़ कह रहा है कि जब तक भैया का विवाह न होगा, मैं अपना विवाह करने पर राज़ी नहीं हूँ।"

देवप्रिया—"उसकी कौन चलावे, वहाँ कोई रखैल रख ली होगी। विवाह क्यों करेगा? वहाँ कोई देखने जाता है?"

देवप्रकाश (झुँझलाकर)—"रखैल रख ली होती, तो तुम्हारे लड़के को ४०) महीना न भेजता, और न वे चीज़ें ही देता, जिन्हें पहले महीने से अब तक बराबर देता चला आता है। न-जाने क्यों तुम्हारा मन उसकी ओर से इतना मैला हो गया है! चाहे वह जान निकालकर भी दे दे, लेकिन तुम न पसीजोगी।"

देवप्रिया नाराज़ होकर चली गई। देवप्रकाश उससे यही कहलाया चाहते थे कि पहले सत्यप्रकाश का विवाह करना उचित है; किंतु वह कभी इस प्रसंग को आने ही न देती थी। स्वयं देवप्रकाश की यह हार्दिक इच्छा थी कि पहले बड़े लड़के का विवाह करें; पर उन्होंने भी आज तक सत्यप्रकाश को कोई पत्र न लिखा था। देवप्रिया के चले जाने के बाद उन्होंने आज पहली बार सत्यप्रकाश को पत्र लिखा। पहले इतने दिनों तक चुपचाप रहने के लिये क्षमा माँगी, तब उससे एक बार घर आने का प्रेमाग्रह किया। लिखा, अब मैं कुछ ही दिनों का मेहमान हूँ। मेरी अभिलाषा है कि तुम्हारा और तुम्हारे छोटे भाई का विवाह देख लूँ।

मुझे बहुत दुःख होगा, यदि तुम यह विनय स्वीकार न करोगे। ज्ञानप्रकाश के असमंजस की बात भी लिखी। अंत में इस बात पर ज़ोर दिया कि किसी और विचार से नहीं, तो ज्ञानू के प्रेम के नाते ही तुम्हें इस बंधन में पड़ना होगा।

सत्यप्रकाश को यह पत्र मिला, तो उसे बहुत खेद हुआ। मेरे भ्रातृस्नेह का यह परिणाम होगा, मुझे न मालूम था। इसके साथ ही उसे यह ईर्ष्यामय आनंद हुआ कि अम्मा और दादा को अब तो कुछ मानसिक पीड़ा होगी। मेरी उन्हें क्या चिंता थी? मैं मर भी जाऊँ, तो भी उनकी आँखों में आँसू न आवें। ७ वर्ष हो गए, कभी भूलकर भी पत्र न लिखा कि मरा है या जीता। अब कुछ चेतावनी मिलेगी। ज्ञानप्रकाश अंत में विवाह करने पर राज़ी तो हो ही जायगा, लेकिन सहज में नहीं। कुछ न हो, मुझे तो एक बार अपने इनकार के कारण लिखने का अवसर मिला। ज्ञानू को मुझसे प्रेम है; लेकिन उसके कारण मैं पारिवारिक अन्याय का दोषी न बनूँगा। हमारा पारिवारिक जीवन संपूर्णतः अन्यायमय है। यह कुमति और वैमनस्य, क्रूरता और नृशंसता का बीजारोपण करता है। इसी माया में फँसकर मनुष्य अपनी प्यारी संतान का शत्रु हो जाता है। न, मैं आँखों देखकर यह जीती मक्खी न निगलूँगा। मैं ज्ञानू को समझाऊँगा अवश्य। मेरे पास जो कुछ जमा है, वह सब उसके विवाह के निमित्त अर्पण भी कर दूँगा। बस, इससे ज़्यादा मैं और कुछ नहीं कर सकता। अगर ज्ञानू भी अविवाहित ही रहे, तो संसार कौन सूना हो जायगा? ऐसे पिता का पुत्र क्या वंश-परंपरा का पालन न करेगा? क्या उसके जीवन में फिर वही अभिनय न दुहराया जायगा, जिसने मेरा सर्वनाश कर दिया?

दूसरे दिन सत्यप्रकाश ने ५००) पिता के पास भेजे, और पत्र का उत्तर लिखा कि मेरा अहोभाग्य, जो आपने मुझे याद किया। ज्ञानू का विवाह निश्चित हो गया, इसकी बधाई! इन रुपयों से नव-वधू के लिये

कोई आभूषण बनवा दीजिएगा। रही मेरे विवाह की बात, सो मैंने अपनी आँखों से जो कुछ देखा, और मेरे सिर पर जो कुछ बीती है, उस पर ध्यान देते हुए यदि मैं कुटुंब-पाश में फँसूँ, तो मुझसे बड़ा उल्लू संसार में न होगा। आशा है, आप मुझे क्षमा करेंगे। विवाह की चर्चा ही से मेरे हृदय को आघात पहुँचता है।

दूसरा पत्र ज्ञानप्रकाश को लिखा कि माता-पिता की आज्ञा को शिरोधार्य करो। मैं अपढ़, मूर्ख, बुद्धि-हीन आदमी हूँ। मुझे विवाह करने का कोई अधिकार नहीं। मैं तुम्हारे विवाह के शुभोत्सव में सम्मिलित न हो सकूँगा, लेकिन मेरे लिये इससे बढ़कर आनंद और संतोष का विषय नहीं हो सकता।

(६)

देवप्रकाश यह पढ़कर अवाक् रह गए। फिर आग्रह करने का साहस न हुआ। देवप्रिया ने नाक सिकोड़कर कहा—"यह लौंडा देखने ही को सीधा है, है ज़हर का बुझाया हुआ! सौ कोस पर बैठा हुआ बरछियों से कैसा छेद रहा है।"

किंतु ज्ञानप्रकाश ने यह पत्र पढ़ा, तो उसे मर्माघात पहुँचा। दादा और अम्मा के अन्याय ने ही उन्हें यह भीषण व्रत धारण करने पर बाध्य किया है। इन्हीं ने उन्हें निर्वासित किया है, और शायद सदा के लिये। न-जाने अम्मा को उनसे क्यों इतनी जलन हुई। मुझे तो अब याद आता है कि किशोरावस्था ही से वह बड़े आज्ञाकारी, विनयशील और गंभीर थे। उन्हें अम्मा की बातों का जवाब देते नहीं सुना। मैं अच्छे-से-अच्छा खाता था, फिर भी उनके तेवर मैले न हुए, हालाँकि उन्हें जलना चाहिए था। ऐसी दशा में अगर उन्हें गार्हस्थ्य जीवन से घृणा हो गई, तो आश्चर्य ही क्या? फिर मैं ही क्यों इस विपत्ति में फँसूँ? कौन जाने, मुझे भी ऐसी ही परिस्थिति का सामना करना पड़े। भैया ने बहुत सोच-समझकर यह धारणा की है।

संध्या-समय जब उसके माता-पिता बैठे हुए इसी समस्या पर विचार कर रहे थे, ज्ञानप्रकाश ने आकर कहा—"मैं कल भैया से मिलने जाऊँगा।"

देवप्रिया—"क्या कलकत्ते जाओगे?"

ज्ञान०—"जी हाँ।"

देवप्रिया—"उन्हीं को क्यों नहीं बुलाते?"

ज्ञान०—"उन्हें कौन मुँह लेकर बुलाऊँ? आप लोगों ने तो पहले ही मेरे मुँह में कालिख लगा दी है। ऐसा देव-पुरुष आप लोगों के कारण विदेश में ठोकरें खा रहा है, और मैं इतना निर्लज्ज हो जाऊँ कि—"

देवप्रिया—"अच्छा, चुप रह; नहीं ब्याह करना है, न कर, जले पर नमक मत छिड़क! माता-पिता का धर्म है; इसलिये कहती हूँ, नहीं तो यहाँ ठेंगे को परवा नहीं। तू चाहे ब्याह कर, चाहे क्वाँरा रह; पर मेरी आँखों से दूर हो जा।"

ज्ञान०—"क्या मेरी सूरत से भी घृणा हो गई?"

देवप्रिया—"जब तू हमारे कहने ही में नहीं, तो जहाँ चाहे रह। हम भी समझ लेंगे, भगवान् ने लड़का ही नहीं दिया।"

देव०—"क्यों व्यर्थ ऐसे कटु वचन बोलती हो?"

ज्ञान०—"अगर आप लोगों की यह इच्छा है, तो यही होगा।"

देवप्रकाश ने देखा कि बात का बतंगड़ हुआ चाहता है, तो ज्ञान-प्रकाश को इशारे से टाल दिया, और पत्नी के क्रोध को शांत करने की चेष्टा करने लगे। मगर देवप्रिया फूट-फूटकर रो रही थी, बार-बार कहती थी—"मैं इसकी सूरत न देखूँगी।"

अंत को देवप्रकाश ने चिढ़कर कहा—"तो तुम्हीं ने तो कटु वचन कहकर उसे उत्तेजित कर दिया।"

देवप्रिया—"यह सब विष उसी चांडाल ने बोया है, जो यहाँ से सात

समुद्र-पार बैठा हुआ मुझे मिट्टी में मिलाने का उद्योग कर रहा है। मेरे बेटे को मुझसे छीनने ही के लिये उसने यह प्रेम का स्वाँग रचा है। मैं उसकी नस-नस पहचानती हूँ। उसका यह मंत्र मेरी जान लेकर छोड़ेगा; नहीं तो मेरा ज्ञानू, जिसने कभी मेरी बात का जवाब नहीं दिया, यों मुझे न जलाता।"

देवप्रकाश—"अरे, तो क्या वह विवाह ही न करेगा! अभी गुस्से में अनाप-शनाप बक गया है। ज़रा शांत हो जायगा, तो मैं समझाकर राज़ी कर दूँगा।"

देवप्रिया—"मेरे हाथ से निकल गया।"

देवप्रिया की आशंका सत्य निकली। देवप्रकाश ने बेटे को बहुत समझाया। कहा—"तुम्हारी माता इस शोक में मर जायगी।" किंतु कुछ असर न हुआ। उसने एक बार 'नहीं' कहकर 'हाँ' न की। निदान पिता भी निराश होकर बैठ रहे।

तीन साल तक प्रतिवर्ष विवाह के दिनों में यह प्रश्न उठता रहा; पर ज्ञानप्रकाश अपनी प्रतिज्ञा पर अटल था। माता का रोना-धोना निष्फल हुआ। हाँ, उसने माता की एक बात मान ली—वह भाई से मिलने कलकत्ते न गया।

तीन साल में घर में बड़ा परिवर्तन हो गया। देवप्रिया की तीनो कन्याओं का विवाह हो गया। अब घर में उसके सिवा कोई स्त्री न थी। सूना घर उसे खाए लेता था। जब वह नैराश्य और क्रोध से व्याकुल हो जाती, तो सत्यप्रकाश को खूब जी भरकर कोसती; मगर दोनो भाइयों में प्रेम-पत्र-व्यवहार बराबर होता रहता था।

देवप्रकाश के स्वभाव में एक विचित्र उदासीनता प्रकट होने लगी। उन्होंने पेंशन ले ली थी, और प्रायः धर्म-ग्रंथों का अध्ययन किया करते थे। ज्ञानप्रकाश ने भी 'आचार्य' की उपाधि प्राप्त कर ली थी, और एक विद्यालय में अध्यापक हो गए थे। देवप्रिया अब संसार में अकेली थी।

देवप्रिया अपने पुत्र को गृहस्थी की ओर खींचने के लिये नित्य टोने-टोटके किया करती। बिरादरी में कौन-सी कन्या सुंदर है, गुणवती है, सुशिक्षिता है—उसका बखान किया करती; पर ज्ञानप्रकाश को इन बातों के सुनने की भी फ़ुरसत न थी।

मुहल्ले के और घरों में नित्य ही विवाह होते रहते थे। बहुएँ आती थीं, उनकी गोद में बच्चे खेलने लगते थे, घर गुलज़ार हो जाता था। कहीं बिदाई होती थी, कहीं बधाइयाँ आती थीं, कहीं गाना-बजाना होता था, कहीं बाजे बजते थे। यह चहल-पहल देखकर देवप्रिया का चित्त चंचल हो जाता। उसे मालूम होता, मैं ही संसार में सबसे अभागिनी हूँ। मेरे ही भाग्य में यह सुख भोगना नहीं बदा। भगवान्, ऐसा भी कोई दिन आवेगा कि मैं अपनी बहू का मुख-चंद्र देखूँगी, बालकों को गोद में खिलाऊँगी। वह भी कोई दिन होगा कि मेरे घर में भी आनंदोत्सव के मधुर गान की तानें उठेंगी! रात-दिन ये ही बातें सोचते-सोचते देवप्रिया की दशा उन्मादिनी की-सी हो गई। आप-ही-आप सत्यप्रकाश को कोसने लगती—वही मेरे प्राणों का घातक है। तल्लीनता उन्माद का प्रधान गुण है। तल्लीनता अत्यंत रचनाशील होती है। वह आकाश में देवतों के विमान उड़ाने लगती है। अगर भोजन में नमक तेज़ हो गया, तो यह शत्रु ने कोई रोड़ा रख दिया होगा। देवप्रिया को अब कभी-कभी धोखा हो जाता कि सत्यप्रकाश घर में आ गया है, वह मुझे मारना चाहता है, ज्ञानप्रकाश को विष खिलाए देता है। एक दिन उसने सत्यप्रकाश के नाम एक पत्र लिखा, और उसमें जितना कोसते बना, कोसा—तू मेरे प्राणों का बैरी है, मेरे कुल का घातक है, हत्यारा है, वह कौन दिन आवेगा कि तेरी मिट्टी उठेगी। तूने मेरे लड़के पर वशीकरण-मंत्र चला दिया है। दूसरे दिन फिर ऐसा ही एक पत्र लिखा, यहाँ तक कि यह उसका नित्य का कर्म हो गया।

जब तक एक चिट्ठी में सत्यप्रकाश को गालियाँ न दे लेती, उसे चैन ही न आता ! इन पत्रों को वह कहारिन के हाथ डाकघर भिजवा दिया करती थी ।

(१०)

ज्ञानप्रकाश का अध्यापक होना सत्यप्रकाश के लिये घातक हो गया । परदेश में उसे यही संतोष था कि मैं संसार में निराधार नहीं हूँ । अब यह अवलंब जाता रहा । ज्ञानप्रकाश ने ज़ोर देकर लिखा—"अब आप मेरे लिये कोई कष्ट न उठावें । मुझे अपनी गुज़र करने के लिये काफ़ी से ज़्यादा मिलने लगा है ।"

यद्यपि सत्यप्रकाश की दूकान ख़ूब चलती थी, लेकिन कलकत्ते-जैसे शहर में एक छोटे-से दूकानदार का जीवन बहुत सुखी नहीं होता । ६०-७०) की मासिक आमदनी होती ही क्या है ? अब तक वह जो कुछ बचाता था, वह वास्तव में बचत न थी, बल्कि त्याग था । एक वक़्त रूखा-सूखा खाकर, एक तंग, सीलन की कोठरी में रहकर २०-२५) बच रहते थे । अब दोनो वक़्त भोजन मिलने लगा । कपड़े भी ज़रा साफ़ पहनने लगा । मगर थोड़े ही दिनों में उसके ख़र्च में औषधियों की एक मद बढ़ गई । फिर वही पहले की-सी दशा हो गई । बरसों तक शुद्ध वायु, प्रकाश और पुष्टिकर भोजन से वंचित रहकर अच्छे-से-अच्छा स्वास्थ्य भी नष्ट हो सकता है । सत्यप्रकाश को अरुचि, मंदाग्नि आदि रोगों ने आ घेरा । कभी-कभी ज्वर भी आ जाता । युवावस्था में आत्मविश्वास होता है । किसी अवलंब की परवा नहीं होती । वयोवृद्धि दूसरों का मुँह ताकती है, कोई आश्रय ढूँढ़ती है । सत्यप्रकाश पहले सोता, तो एक ही करवट में सबेरा हो जाता । कभी बाज़ार से पूरियाँ लेकर खा लेता, कभी मिठाई पर टाल देता । पर अब रात को अच्छी तरह नींद न आती, बाज़ारू भोजन से घृणा होती, रात को घर आता, तो थककर चूर-चूर हो जाता । उस वक़्त चूल्हा जलाना, भोजन

पकाना बहुत अखरता। कभी-कभी वह अपने अकेलेपन पर रोता। रात को जब किसी तरह नींद न आती, तो उसका मन किसी से बातें करने को लालायित होने लगता। पर वहाँ निशांधकार के सिवा और कौन था? दीवारों के कान चाहे हों, मुँह नहीं होता। इधर ज्ञानप्रकाश के पत्र भी अब कम आते थे, और वे भी रूखे। उनमें अब हृदय के सरल उद्‍गारों का लेश भी न रहता। सत्यप्रकाश अब भी वैसे ही भावमय पत्र लिखता था; पर एक अध्यापक के लिये भावुकता कब शोभा देती है? शनैः-शनैः सत्यप्रकाश को भ्रम होने लगा कि ज्ञानप्रकाश भी मुझसे निष्ठुरता करने लगा, नहीं तो क्या मेरे पास दो-चार दिन के लिये आना असंभव था? मेरे लिये तो घर का द्वार बंद है, पर उसे कौन-सी बाधा है? उस ग़रीब को क्या मालूम कि यहाँ ज्ञानप्रकाश ने माता से कलकत्ते न जाने की क़सम खा ली है। इस भ्रम ने उसे और भी हताश कर दिया।

शहरों में मनुष्य बहुत होते हैं; पर मनुष्यता बिरले ही में होती है। सत्यप्रकाश उस बहुसंख्यक स्थान में भी अकेला था। उसके मन में अब एक नई आकांक्षा अंकुरित हुई। क्यों न घर लौट चलूँ? किसी संगिनी के प्रेम की क्यों न शरण लूँ? वह सुख और शांति और कहाँ मिल सकती है? मेरे जीवन के निराशांधकार को और कौन ज्योति आलोकित कर सकती है? वह इस आवेश को अपनी संपूर्ण विचार-शक्ति से रोकता; पर जिस भाँति किसी बालक को घर में रक्खी हुई मिठाइयों की याद बार-बार खेल से घर खींच लाती है, उसी तरह उसका चित्त भी बार-बार उन्हीं मधुर चिंताओं में मग्न हो जाता था। वह सोचता, मुझे विधाता ने सब सुखों से वंचित कर दिया है, नहीं तो मेरी दशा ऐसी हीन क्यों होती? मुझे ईश्वर ने बुद्धि न दी थी क्या? क्या मैं श्रम से जी चुराता था? अगर बालपन ही में मेरे उत्साह और अभिरुचि पर तुषार न पड़ गया होता, मेरी बुद्धि-शक्तियों का गला न

घोट दिया गया होता, तो मैं भी आज आदमी होता ; पेट पालने के लिये इस विदेश में न पड़ा रहता। नहीं, मैं अपने ऊपर यह अत्याचार न करूँगा।

महीनों तक सत्यप्रकाश के मन और बुद्धि में यह संघर्ष होता रहा। एक दिन वह दूकान से आकर चूल्हा जलाने जा रहा था कि डाकिए ने पुकारा। ज्ञानप्रकाश के सिवा उसके पास और किसी के पत्र न आते थे। आज ही उनका पत्र आ चुका था। यह दूसरा पत्र क्यों? किसी अनिष्ट की आशंका हुई। पत्र लेकर पढ़ने लगा। एक क्षण में पत्र उसके हाथ से छूटकर गिर पड़ा, और वह सिर थामकर बैठ गया कि ज़मीन पर न गिर पड़े। यह देवप्रिया की विष-युक्त लेखनी से निकला हुआ ज़हर का तीर था, जिसने एक पल में उसे संज्ञा-हीन कर दिया। उसकी सारी मर्मांतक व्यथा—क्रोध, नैराश्य, कृतघ्नता, ग्लानि—केवल एक ठंडी साँस में समाप्त हो गई।

वह जाकर चारपाई पर लेट रहा। मानसिक व्यथा आप-से-आप पानी हो गई। हा! सारा जीवन नष्ट हो गया! मैं ज्ञानप्रकाश का शत्रु हूँ? मैं इतने दिनों से केवल उसके जीवन को मिट्टी में मिलाने के लिये ही प्रेम का स्वाँग भर रहा हूं? भगवान्! तुम्हीं इसके साक्षी हो!

तीसरे दिन फिर देवप्रिया का पत्र पहुँचा। सत्यप्रकाश ने उसे लेकर फाड़ डाला। पढ़ने की हिम्मत न पड़ी।

एक ही दिन पीछे तीसरा पत्र पहुँचा। उसका भी वही अंत हुआ। फिर तो यह एक नित्य का कर्म हो गया। पत्र आता और फाड़ दिया जाता। किंतु देवप्रिया का अभिप्राय विना पढ़े ही पूरा हो जाता था—सत्यप्रकाश के मर्मस्थान पर एक चोट और पड़ जाती थी।

एक महीने की भीषण हार्दिक वेदना के बाद सत्यप्रकाश को जीवन से घृणा हो गई। उसने दूकान बंद कर दी, बाहर आना-जाना छोड़ दिया। सारे दिन खाट पर पड़ा रहता। वे दिन याद आते, जब माता

पुचकारकर गोद में बिठा लेती, और कहती—"बेटा !" पिता संध्या-समय दफ़्तर से आकर गोद में उठा लेते, और कहते—"भैया !" माता की सजीव मूर्ति उसके सामने आ खड़ी होती, ठीक वैसे ही, जब वह गंगा-स्नान करने गई थी। उसकी प्यार-भरी बातें कानों में गूँजने लगतीं। फिर वह दृश्य सामने आता, जब उसने नव-वधू माता को 'अम्मा' कहकर पुकारा था। तब उसके कठोर शब्द याद आ जाते, उसके क्रोध से भरे हुए विकराल नेत्र आँखों के सामने आ जाते। उसे अपना सिसक-सिसककर रोना याद आ जाता। फिर सौर-गृह का दृश्य सामने आता। उसने कितने प्रेम से बच्चे को गोद में लेना चाहा था! तब माता के वज्र के-से शब्द कानों में गूँजने लगते। हाय! उसी वज्र ने मेरा सर्वनाश कर दिया! ऐसी कितनी ही घटनाएँ याद आतीं। अब विना किसी अपराध के मा डाट बताती, पिता का निर्दय, निष्ठुर व्यवहार याद आने लगता। उनका बात-बात पर त्योरियाँ बदलना, माता के मिथ्यापवादों पर विश्वास करना। हाय! मेरा सारा जीवन नष्ट हो गया! तब वह करवट बदल लेता, और फिर वे ही दृश्य आँखों में फिरने लगते। फिर करवट बदलता और चिल्ला उठता—इस जीवन का अंत क्यों नहीं हो जाता!

इस भाँति पड़े-पड़े उसे कई दिन हो गए। संध्या हो गई थी कि सहसा उसे द्वार पर किसी के पुकारने की आवाज़ सुनाई पड़ी। उसने कान लगाकर सुना, और चौंक पड़ा—कोई परिचित आवाज़ थी। दौड़ा, द्वार पर आया, तो देखा, ज्ञानप्रकाश खड़ा है। कितना रूपवान् पुरुष था! वह उसके गले से लिपट गया। ज्ञानप्रकाश ने उसके पैरों को स्पर्श किया। दोनो भाई घर में आए। अंधकार छाया हुआ था। घर की यह दशा देखकर ज्ञानप्रकाश जो अब तक अपने कंठ के आवेग को रोके हुए था, रो पड़ा। सत्यप्रकाश ने लालटेन जलाई। घर क्या था, भूत का डेरा था। सत्यप्रकाश ने जल्दी से एक कुरता गले में डाल लिया। ज्ञान-

प्रकाश भाई का जर्जर शरीर, पीला मुख, बुझी हुई आँखें देखता और रोता था।

सत्यप्रकाश ने कहा—"मैं आजकल बीमार हूँ।"

ज्ञानप्रकाश—"यह तो देख ही रहा हूँ।"

सत्य०—"तुमने अपने आने की सूचना भी न दी, मकान का पता कैसे चला?"

ज्ञान०—"सूचना तो दी थी, आपको पत्र न मिला होगा।"

सत्य०—"अच्छा, हाँ, दी होगी, पत्र दूकान में डाल गया होगा। मैं इधर कई दिनों से दूकान नहीं गया। घर पर सब कुशल है?"

ज्ञान०—"माताजी का देहांत हो गया।"

सत्य०—"अरे! क्या बीमार थीं?"

ज्ञान०—"जी नहीं। मालूम नहीं, क्या खा लिया। इधर उन्हें उन्माद-सा हो गया था। पिताजी ने कुछ कटु वचन कहे थे, शायद इसी पर कुछ खा लिया।"

सत्य०—पिताजी तो कुशल से हैं?"

ज्ञान०—"हाँ, अभी मरे नहीं हैं।"

सत्य०—"अरे! क्या बहुत बीमार हैं?"

ज्ञान०—"माता ने विष खा लिया, तो वह उनका मुँह खोलकर दवा पिला रहे थे। माताजी ने ज़ोर से उनकी दो उँगलियाँ काट लीं। वही विष उनके शरीर में पहुँच गया। तब से सारा शरीर सूज आया है। अस्पताल में पड़े हुए हैं, किसी को देखते हैं, तो काटने दौड़ते हैं। बचने की आशा नहीं।"

सत्य०—"तब तो घर ही चौपट हो गया!"

ज्ञान०—"ऐसे घर को अब से बहुत पहले चौपट हो जाना चाहिए था।"

तीसरे दिन दोनो भाई प्रातःकाल कलकत्ते से बिदा होकर चल दिए।

डिक्री के रुपए

(१)

नईम और कैलास में इतनी शारीरिक, मानसिक, नैतिक और सामाजिक अभिन्नता थी, जितनी दो प्राणियों में हो सकती है। नईम दीर्घकाय, विशाल वृक्ष था, कैलास बाग़ का कोमल पौदा; नईम को क्रिकेट और फ़ुटबाल, सैर और शिकार का व्यसन था, कैलास को पुस्तकावलोकन का; नईम एक विनोदशील, वाक्चतुर, निर्द्वंद्व, हास्यप्रिय, विलासी युवक था। उसे 'कल' की चिंता कभी न सताती थी। विद्यालय उसके लिये क्रीड़ा का स्थान था, और कभी-कभी बेंच पर खड़े होने का। इसके प्रतिकूल कैलास एक एकांत-प्रिय, आलसी, व्यायाम से कोसों भागनेवाला, आमोद-प्रमोद से दूर रहनेवाला, चिंताशील, आदर्शवादी जीव था। वह भविष्य की कल्पनाओं से विकल रहता था। नईम एक सुसपन्न, उच्च पदाधिकारी पिता का एकमात्र पुत्र था। कैलास एक साधारण व्यवसायी के कई पुत्रों में एक था। उसे पुस्तकों के लिये प्रचुर धन न मिलता था, वह माँग-जाँचकर काम निकाला करता था। एक के लिये जीवन आनंद का स्वप्न था, और दूसरे के लिये विपत्तियों का बोझ। पर इतनी विषमताओं के होते हुए भी उन दोनो में घनिष्ठ मैत्री और निस्स्वार्थ, विशुद्ध प्रेम था। कैलास मर जाता, पर नईम का अनुग्रहपात्र न बनता; और नईम मर जाता, पर कैलास से बेअदबी न करता। नईम की ख़ातिर से कैलास कभी-कभी स्वच्छ, निर्मल वायु का सुख उठा लिया करता था। कैलास की ख़ातिर से नईम भी कभी-कभी भविष्य के स्वप्न देख लिया करता था। नईम के लिये राज्यपद का द्वार खुला हुआ था, भविष्य कोई अपार सागर न था। कैलास को अपने हाथों से कुआँ खोदकर पानी पीना था, भविष्य

एक भीषण संग्राम था, जिसके स्मरण-मात्र से उसका चित्त अशांत हो उठता था।

(२)

कॉलेज से निकलने के बाद नईम को शासन-विभाग में एक उच्च पद प्राप्त हो गया, यद्यपि वह तीसरी श्रेणी में पास हुआ था। कैलास प्रथम श्रेणी में पास हुआ था; किंतु उसे बरसों एड़ियाँ रगड़ने, खाक छानने और कुँए झाँकने पर भी कोई काम न मिला। यहाँ तक कि विवश होकर उसे अपनी कलम का आश्रय लेना पड़ा। उसने एक समाचार-पत्र निकाला। एक ने राज्याधिकार का रास्ता लिया, जिसका लक्ष्य धन था और दूसरे ने सेवा-मार्ग का सहारा लिया, जिसका परिणाम ख्याति, कष्ट और कभी-कभी कारागार होता है। नईम को उसके दफ़्तर के बाहर कोई न जानता था; किंतु वह बँगले में रहता, मोटर पर हवा खाता, थिएटर देखता और गरमियों में नैनीताल की सैर करता था। कैलास को सारा संसार जानता था; पर उसके रहने का मकान कच्चा था, सवारी के लिये अपने पाँव थे। बच्चों के लिये दूध भी मुश्किल से मिलता था, साग-भाजी में काट-कपट करना पड़ता था। नईम के लिये सबसे बड़े सौभाग्य की बात यह थी कि उसके केवल एक पुत्र था; पर कैलास के लिये सबसे बड़ी दुर्भाग्य की बात उसकी संतान-वृद्धि थी, जो उसे पनपने न देती थी। दोनो मित्रों में पत्र-व्यवहार होता रहता था। कभी-कभी दोनो में मुलाक़ात भी हो जाती थी। नईम कहता था—"यार, तुम्हीं मजे में हो, देश और जाति की कुछ सेवा तो कर रहे हो। यहाँ तोपेट-पूजाके सिवा और किसी काम के न हुए।" यह पेट-पूजा उसने कई दिनों की कठिन तपस्या से हृदयंगम कर पाई थी, और वह उसके प्रयोग के लिये अवसर ढूँढ़ता रहता था।

कैलास खूब समझता था कि यह केवल नईम की विनयशीलता है। यह मेरी कुदशा से दुखी होकर मुझे इस उपाय से सांत्वना देना चाहता

है। इसलिये यह अपनी वास्तविक स्थिति को उससे छिपाने का विफल प्रयत्न किया करता था।

विष्णुपुर की रियासत में हाहाकार मचा हुआ था। रियासत का मैनेज़र अपने बँगले में ठीक दोपहर के समय सैकड़ों आदमियों के सामने, क़त्ल कर दिया गया था। यद्यपि ख़ूनी भाग गया था, पर अधिकारियों को संदेह था कि कुँवर साहब की दुष्प्रेरणा से ही यह हत्याभिनय हुआ है। कुँवर साहब अभी बालिग़ न हुए थे। रियासत का प्रबंध कोर्ट ऑफ़् वार्ड द्वारा होता था। मैनेजर पर कुँवर साहब की देख-रेख का भार भी था। विलास-प्रिय कुँवर को मैनेजर का हस्तक्षेप बहुत ही बुरा मालूम होता था। दोनो में बरसों से मनमुटाव था। यहाँ तक कि कई बार प्रत्यक्ष कटु वाक्यों की नौबत भी आ पहुँची थी। अतएव कुँवर साहब पर संदेह होना स्वाभाविक ही था। इस घटना का अनुसंधान करने के लिये ज़िले के हाकिम ने मिरज़ा नईम को नियुक्त किया। किसी पुलिस-कर्मचारी द्वारा तहकीकात कराने में कुँवर साहब के अपमान का भय था।

नईम को अपने भाग्य-निर्माण का स्वर्ण-सुयोग प्राप्त हुआ। वह न त्यागी था, न ज्ञानी। सभी उसके चरित्र की दुर्बलता से परिचित थे; अगर कोई न जानता था, तो हुक्काम लोग। कुँवर साहब ने मुँह-माँगी मुराद पाई। नईम जब विष्णुपुर पहुँचा, तो उसका असामान्य आदर-सत्कार हुआ। भेंटें चढ़ने लगीं, अरदली के चपरासी, पेशकार, साईस, बावर्ची, ख़िदमतगार, सभी के मुँह तर और मुट्ठियाँ गरम होने लगीं। कुँवर साहब के हवाली-मवाली रात-दिन घेरे रहते, मानो दामाद ससुराल आया हो।

एक दिन प्रातःकाल कुँवर साहब की माता आकर नईम के सामने हाथ बाँधे खड़ी हो गई। नईम लेटा हुक़्क़ा पी रहा था। तप, संयम और वैधव्य की यह तेजस्वी प्रतिमा देखकर वह उठ बैठा।

रानी उसकी ओर वात्सल्य-पूर्ण लोचनों से देखती हुई बोलीं—"हुज़ूर, मेरे बेटे का जीवन आपके हाथ में है। आप ही उसके भाग्य-विधाता हैं। आपको उसी माता की सौगंद है, जिसके आप सुयोग्य पुत्र हैं, मेरे लाल की रक्षा कीजिएगा। मैं अपना सर्वस्व आपके चरणों पर अर्पण करती हूँ।"

स्वार्थ ने दया के संयोग से नईम को पूर्ण रीति से वशीभूत कर लिया।

(२)

उन्हीं दिनों कैलास नईम से मिलने आया। दोनो मित्र बड़े तपाक से गले मिले। नईम ने बातों-बातों में यह संपूर्ण वृत्तांत कह सुनाया, और कैलास पर अपने कृत्य का औचित्य सिद्ध करना चाहा। कैलास ने कहा—"मेरे विचार में पाप सदैव पाप है, चाहे वह किसी आवरण में मंडित हो।"

नईम—"और मेरा विचार है कि अगर गुनाह से किसी की जान बचती हो, तो वह ऐन सवाब है। कुँअर साहब अभी नौजवान आदमी हैं। बहुत ही होनहार, बुद्धिमान्, उदार और सहृदय हैं। आप उनसे मिलें, तो ख़ुश हो जायँ। उनका स्वभाव अत्यंत विनम्र है। मैं, जो यथार्थ में दुष्ट प्रकृति का मनुष्य था, बरबस कुँवर साहब को दिक़ किया करता था। यहाँ तक कि एक मोटरकार के लिये इसने रुपए न स्वीकार किए, न सिफ़ारिश की। मैं यह नहीं कहता कि कुँवर साहब का यह कार्य स्तुत्य है; लेकिन बहस यह है कि उनको अपराधी सिद्ध करके उन्हें काले पानी की हवा खिलाई जाय; या निरपराध सिद्ध करके उनकी प्राण-रक्षा की जाय? और भई, तुमसे तो कोई परदा नहीं है, पूरे २० हज़ार की थैली है। बस, मुझे अपनी रिपोर्ट में यह लिख देना होगा कि व्यक्तिगत वैमनस्य के कारण यह दुर्घटना हुई है, राजा साहब का इसमें कोई संपर्क नहीं। जो शहादतें मिल सकीं, उन्हें मैंने ग़ायब कर दिया

है। मुझे इस कार्य के लिये नियुक्त करने में अधिकारियों की एक मसलहत थी। कुँवर साहब हिंदू हैं, इसलिये किसी हिंदू-कर्मचारी को नियुक्त न करके ज़िलाधीश ने यह भार मेरे सिर पर रक्खा। यह सांप्रदायिक विरोध मुझे निःस्पृह सिद्ध करने के लिये काफ़ी है। मैंने दो-चार अवसरों पर कुछ तो हाकिमों की प्रेरणा से और कुछ स्वेच्छा से मुसलमानों के साथ पक्षपात किया, जिससे यह मशहूर हो गया है कि मैं हिंदुओं का कट्टर दुश्मन हूँ। हिंदू लोग तो मुझे पक्षपात का पुतला समझते हैं। यह भ्रम मुझे आक्षेपों से बचाने के लिये काफ़ी है। बताओ, हूँ तक़दीरवर कि नहीं?"

कैलास—"अगर कहीं बात खुल गई, तो?"

नईम—"तो यह मेरी समझ का फेर, मेरे अनुसंधान का दोष, मानव-प्रकृति के एक अटल नियम का उज्ज्वल उदाहरण होगा। मैं कोई सर्वज्ञ तो हूँ नहीं। मेरी नीयत पर आँच न आने पावेगी। मुझ पर रिशवत लेने का संदेह न हो सकेगा। आप इसके व्यावहारिक कोण पर न जाइए, केवल नैतिक कोण पर निगाह रखिए। यह कार्य नीति के अनुकूल है या नहीं? आध्यात्मिक सिद्धांतों को न खींच लाइए गा, केवल नीति के सिद्धांतों से इसकी विवेचना कीजिए।"

कैलास—"इसका एक अनिवार्य फल यह होगा कि दूसरे रईसों को भी ऐसे दुष्कृत्यों की उत्तेजना मिलेगी। धन के बड़े-से-बड़े पापों पर परदा पड़ सकता है, इस विचार के फैलने का फल कितना भयंकर होगा, इसका आप स्वयं अनुमान कर सकते हैं।"

नईम—"जी नहीं, मैं यह अनुमान नहीं कर सकता। रिशवत अब भी ९० फ़ीसदी अभियोगों पर परदा डालती है। फिर भी पाप का भय प्रत्येक हृदय में है।"

दोनो मित्रों में देर तक इस विषय पर तर्क-वितर्क होता रहा; लेकिन कैलास का न्याय-विचार नईम के हास्य और व्यंग्य से पेश न पा सका।

(४)

विष्णुपुर के हत्याकांड पर समाचार-पत्रों में आलोचना होने लगी। सभी पत्र एक स्वर से राजा साहब को ही लांछित करते और गवर्नमेंट को राजा साहब का अनुचित पक्षपात करने का दोष लगाते थे, लेकिन इसके साथ यह भी लिख देते थे कि अभी यह अभियोग विचाराधीन है, इसलिये इस पर टीका नहीं की जा सकती।

मिरज़ा नईम ने अपनी खोज को सत्य का रूप देने के लिये पूरा एक महीना व्यतीत किया। जब उनकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई, तो राजनीतिक क्षेत्र में विप्लव मच गया। जनता के संदेह की पुष्टि हो गई।

कैलास के सामने एक जटिल समस्या उपस्थित हुई। अभी तक उसने इस विषय पर एकमात्र मौन धारण कर रक्खा था। वह यह निश्चय न कर सकता था कि क्या लिखूँ। गवर्नमेंट का पक्ष लेना अपनी अंतरात्मा को पद-दलित करना था; आत्मस्वातंत्र्य का बलिदान करना था। पर मौन रहना और भी अपमान-जनक था। अंत को जब सहयोगियों में दो-चार ने उसके ऊपर सांकेतिक रूप से आक्षेप करना शुरू किया कि उसका मौन निरर्थक नहीं, तब उसके लिये तटस्थ रहना असह्य हो गया। उसके वैयक्तिक तथा जातीय कर्तव्य में घोर संग्राम होने लगा। उस मैत्री को, जिसके अंकुर पचीस वर्ष पहले हृदय में अंकुरित हुए थे, और अब जो एक सघन, विशाल वृक्ष का रूप धारण कर चुकी थी, हृदय से निकालना हृदय को चीरना था। वह मित्र, जो उसके दुख में दुखी और सुख में सुखी होता था, जिसका उदार हृदय नित्य उसकी सहायता के लिये तत्पर रहता था, जिसके घर में जाकर वह अपनी चिंताओं को भूल जाता था, जिसके प्रेमालिंगन में वह अपने कष्टों को विसर्जित कर दिया करता था, जिसके दर्शन-मात्र ही से उसे आश्वासन, दृढ़ता तथा मनोबल प्राप्त होता था, उसी मित्र की जड़ खोदनी पड़ेगी! वह बुरी सायत थी, जब मैंने संपादकीय क्षेत्र में पदार्पण किया, नहीं तो आज

इस धर्म-संकट में क्यों पड़ता! कितना घोर विश्वासघात होगा! विश्वास. मैत्री का मुख्य अर्थ है। नईम ने मुझे अपना विश्वास-पात्र बनाया है, मुझसे कभी परदा नहीं रक्खा, उनके गुप्त रहस्यों को प्रकाश में लाना उसके प्रति कितना घोर अन्याय होगा! नहीं, मैं मैत्री को कलंकित न करूँगा, उसकी निर्मल कीर्ति पर धब्बा न लगाऊँगा, मैत्री पर वज्राघात न करूँगा। ईश्वर वह दिन न लावे कि मेरे हाथों नईम का अहित हो। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि मुझ पर कोई संकट पड़े, तो नईम मेरे लिये प्राण तक देने को तैयार हो जायगा। उसी मित्र को मैं संसार के सामने अपमानित करूँ, उसकी गरदन पर कुठार चलाऊँ! भगवन्, मुझे वह दिन न दिखाना।

लेकिन जातीय कर्तव्य का पक्ष भी निरस्त्र न था। पत्र का संपादक परंपरागत नियमों के अनुसार जाति का सेवक है। वह जो कुछ देखता है, वह जाति की विराट् दृष्टि से ही। वह जो कुछ विचार करता है, उस पर भी जातीयता की छाप लगी होती है। नित्य जाति के विस्तृत विचार-क्षेत्र में विचरण करते रहने से व्यक्ति का महत्त्व उसकी दृष्टि में अत्यंत संकीर्ण हो जाता है। वह व्यक्ति को क्षुद्र, तुच्छ, नगण्य समझने लगता है। व्यक्ति की जाति पर बलि देना उसकी नीति का प्रथम अंग है। यहाँ तक कि वह बहुधा अपने स्वार्थ को भी जाति पर वार देता है। उसके जीवन का लक्ष्य महान् और आदर्श पवित्र होता है। वह उन महान् आत्माओं का अनुगामी होता है, जिन्होंने राष्ट्रों का निर्माण किया है, जिनकी कीर्ति अमर हो गई है, जो दलित राष्ट्रों का उद्धार करनेवाली हो गई है। वह यथाशक्ति कोई ऐसा काम न कर सकता, जिससे उसके पूर्वजों की उज्ज्वल विरुदावली में कालिमा लगने का भय हो। कैलास राजनीतिक क्षेत्र में बहुत कुछ यश और गौरव प्राप्त कर चुका था। उसकी सम्मति आदर की दृष्टि से देखी जाती थी। उसके निर्भीक विचारों ने, उसकी निष्पक्ष टीकाओं ने उसे संपादक-मंडली

,का प्रमुख नेता बना दिया था। अतएव इस अवसर पर मैत्री का निर्वाह केवल उसकी नीति और आदर्श ही के विरुद्ध नहीं, उसके मनोगत भावों के भी विरुद्ध था। इसमें उसका अपमान था। आत्म-पतन था, भीरुता थी। यह कर्तव्य-पथ से विमुख होना और राजनीतिक क्षेत्र से सदैव के लिये बहिष्कृत हो जाना था। सोचता, एक व्यक्ति की, चाहे वह मेरा कितना ही आत्मीय क्यों न हो, राष्ट्र के सामने क्या हस्ती है? नईम के बनने या बिगड़ने से राष्ट्र पर कोई असर न पड़ेगा। लेकिन शासन की निरंकुशता और अत्याचार पर परदा डालना राष्ट्र के लिये भयंकर सिद्ध हो सकता है। उसे इसकी परवा न थी कि मेरी आलोचना का प्रत्यक्ष कोई प्रभाव होगा या नहीं। संपादक की दृष्टि में अपनी सम्मति सिंहनाद के समान प्रतीत होती है। वह कदाचित् समझता है कि मेरी लेखनी शासन को कंपायमान कर देगी, विश्व को हिला देगी। शायद सारा संसार मेरी क़लम की सरसराहट से थर्रा उठेगा! मेरे विचार प्रकट होते ही युगांतर उपस्थित कर देंगे। नईम मेरा मित्र है, किंतु राष्ट्र मेरा इष्टदेव है। मित्र के पद की रक्षा के लिये क्या अपने इष्ट पर प्राण-घातक आघात करूँ?

कई दिनों तक कैलास के व्यक्तिगत और संपादकीय कर्तव्यों में संघर्ष होता रहा। अंत को जाति ने व्यक्ति को परास्त कर दिया। उसने निश्चय किया कि मैं इस रहस्य का यथार्थ स्वरूप दिखा दूँगा; शासन के अनुत्तर-दायित्व को जनता के सामने खोलकर रख दूँगा; शासन-विभाग के कर्म-चारियों की स्वार्थ-लोलुपता का नमूना दिखा दूँगा; दुनिया को दिखा दूँगा कि सरकार किनकी आँखों से देखती है, किनके कानों से सुनती है। उसकी अक्षमता, उसकी अयोग्यता और उसकी दुर्बलता को प्रमाणित करने का इससे बढ़कर और कौन-सा उदाहरण मिल सकता है? नईम मेरा मित्र है, तो हो; जाति के सामने वह कोई चीज़ नहीं। उसकी हानि के भय से मैं राष्ट्रीय कर्तव्य से क्यों मुँह फेरूँ, अपनी आत्मा को

क्यों दूषित करूँ, अपनी स्वाधीनता को क्यों कलंकित करूँ? आह, प्राणों से प्रिय नईम! मुझे क्षमा करना, आज तुम-जैसे मित्र-रत्न को मैं अपने कर्तव्य की वेदी पर बलि चढ़ाता हूँ। मगर तुम्हारी जगह अगर मेरा पुत्र होता, तो उसे भी इसी कर्तव्य की बलि-वेदी पर भेंट कर देता!

दूसरे दिन से कैलास ने इस दुर्घटना की मीमांसा शुरू की। जो कुछ उसने नईम से सुना था, वह सब एक लेख-माला के रूप में प्रकाशित करने लगा। घर का भेदी लंका ढाहे! अन्य संपादकों को जहाँ अनुमान, तर्क और युक्ति के आधार पर अपना मत स्थिर करना पड़ता था, और इसलिये वे कितनी ही अनर्गल, अपवाद-पूर्ण बातें लिख डालते थे, वहाँ कैलास की टिप्पणियाँ प्रत्यक्ष प्रमाणों से युक्त होती थीं। वह पते की बातें कहता था, और उस निर्भीकता के साथ, जो दिव्य अनुभव का निर्देश करती थी। उसके लेखों में विस्तार कम, पर सार अधिक होता था। उसने नईम को भी न छोड़ा, उसकी स्वार्थ-लिप्सा का ख़ून खाका उड़ाया। यहाँ तक कि वह धन की संख्या भी लिख दी, जो इस कुत्सित व्यापार पर परदा डालने के लिये उसे दी गई थी। सबसे मज़े की बात यह थी कि उसने नईम से एक राष्ट्रीय गुप्तचर की मुलाक़ात का भी उल्लेख किया, जिसने नईम को रुपए लेते देखा था। अंत में गवर्नमेंट को भी चैलेंज दिया कि जो उसमें साहस हो, तो वह मेरे प्रमाणों को झूठा साबित कर दे। इतना ही नहीं, उसने वह वार्तालाप भी अक्षरशः प्रकाशित कर दिया, जो उसके और नईम के बीच हुआ था। रानी का नईम के पास जाना, उसके पैरों पर गिरना, कुँवर साहब का नईम के पास नाना प्रकार के तोहफ़े लेकर आना, इन सभी प्रसंगों ने उसके लेखों में एक जासूसी उपन्यास का मज़ा पैदा कर दिया।

इन लेखों ने राजनीतिक क्षेत्र में हलचल मचा दी। पत्र-संपादकों को अधिकारियों पर निशाने लगाने के ऐसे अवसर बड़े सौभाग्य से मिलते हैं। जगह-जगह शासन की इस करतूत की निंदा करने के लिये सभाएँ होने

लगीं। कई सदस्यों ने व्यवस्थापक-सभा में इस विषय पर प्रश्न करने की घोषणा की। शासकों को कभी ऐसी मुँह की न खानी पड़ी थी। आखिर उन्हें अपनी मान-रक्षा के लिये इसके सिवा और कोई उपाय न सूझा कि वे मिरज़ा नईम को कैलास पर मान-हानि का अभियोग चलाने के लिये विवश करें।

(५)

कैलास पर इस्तग़ासा दायर हुआ। मिरज़ा नईम की ओर से सरकार पैरवी करती थी। कैलास स्वयं अपनी पैरवी कर रहा था। न्याय के प्रमुख संरक्षकों (वकील-बैरिस्टरों) ने किसी अज्ञात कारण से उसकी पैरवी करना अस्वीकार किया। न्यायाधीश को हारकर कैलास को, क़ानून की सनद न रखते हुए भी, अपने मुकदमे की पैरवी करने की आज्ञा देनी पड़ी। महीनों अभियोग चलता रहा। जनता में सनसनी फैल गई। रोज़ हज़ारों आदमी अदालत में एकत्र होते थे। बाज़ारों में अभियोग की रिपोर्ट पढ़ने के लिये समाचार-पत्रों की लूट होती थी। चतुर पाठक पढ़े हुए पत्रों से घड़ी रात जाते-जाते दुगने पैसे खड़े कर लेते थे; क्योंकि उस समय तक पत्र-विक्रेताओं के पास कोई पत्र न बचने पाता था। जिन बातों का ज्ञान पहले गिने-गिनाए पत्र-ग्राहकों को था, उन पर अब जनता की टिप्पणियाँ होने लगीं। नईम की मिट्टी कभी इतनी ख़राब न हुई थी; गली-गली, घर-घर उसी की चर्चा थी। जनता का क्रोध उसी पर केंद्रित हो गया था। वह दिन भी स्मरणीय रहेगा, जब दोनो सच्चे, एक दूसरे पर प्राण देने-वाले, मित्र अदालत में आमने-सामने खड़े हुए, और कैलास ने मिरज़ा नईम से ज़िरह करनी शुरू की। कैलास को ऐसा मानसिक कष्ट हो रहा था, मानो वह नईम की गरदन पर तलवार चलाने जा रहा है। और, नईम के लिये तो वह अग्नि-परीक्षा थी। दोनो के मुख उदास थे; एक का आत्मग्लानि से, दूसरे का भय से। नईम प्रसन्न बनने की चेष्टा करता था, कभी-कभी सूखी हँसी भी हँसता था; लेकिन कैलास—

आह, उस गरीब के दिल पर जो गुजर रही थी, उसे कौन जान सकता है।

कैलास ने पूछा—"आप और मैं साथ पढ़ते थे, इसे आप स्वीकार करते हैं?"

नईम—"अवश्य स्वीकार करता हूँ।"

कैलास—"हम दोनो में इतनी घनिष्ठता थी कि हम आपस में कोई परदा न रखते थे, इसे आप स्वीकार करते हैं?"

नईम—"अवश्य स्वीकार करता हूँ।"

कैलास—"जिन दिनों आप इस मामले की जाँच कर रहे थे, मैं आपसे मिलने गया था, इसे भी आप स्वीकार करते हैं?"

नईम—"अवश्य स्वीकार करता हूँ।"

कैलास—"क्या उस समय आपने मुझसे यह नहीं कहा था कि कुँवर साहब की प्रेरणा से यह हत्या हुई है?"

नईम—"कदापि नहीं।"

कैलास—"आपके मुख से ये शब्द नहीं निकलते थे कि बीस हज़ार की थैली है?"

नईम ज़रा भी न झिझका, जरा भी संकुचित न हुआ। उसकी ज़बान में लेश-मात्र भी लुकनत न हुई, वाणी में भी ज़रा भी थरथराहट न आई। उसके मुख पर अशांति, अस्थिरता या असमंजस का कोई भी चिह्न न दिखाई दिया। वह अविचल खड़ा रहा। कैलास ने बहुत डरते-डरते यह प्रश्न किया था। उसको भय था कि नईम इसका कुछ जवाब न दे सकेगा। कदाचित् रोने लगेगा। लेकिन नईम ने निःशंक भाव से कहा—"संभव है, आपने स्वप्न में मुझसे ये बातें सुनी हों।"

कैलास एक क्षण के लिये दंग हो गया। फिर उसने विस्मय से नईम की ओर नज़र डालकर पूछा—"क्या आपने यह नहीं फ़रमाया था कि मैंने दो-चार अवसरों पर मुसलमानों के साथ पक्षपात किया है, और

इसीलिये मुझे हिंदू-विरोधी समझकर इस अनुसंधान का भार सौंपा गया है ?"

नईम ज़रा भी न झिझका। अविचल, स्थिर और शांत भाव से बोला—"आपकी कल्पना-शक्ति वास्तव में आश्चर्य-जनक है। बरसों तक आपके साथ रहने पर भी मुझे यह विदित न हुआ था कि आपमें घटनाओं का आविष्कार करने की ऐसी चमत्कार-पूर्ण शक्ति है।"

कैलास ने और कोई प्रश्न नहीं किया। उसे अपने पराभव का दुःख न था, दुःख था नईम की आत्मा के पतन का। वह कल्पना भी न कर सकता था कि कोई मनुष्य अपने मुँह से निकाली हुई बात को इतनी ढिठाई से अस्वीकार कर सकता है; और वह भी उसी आदमी के मुँह पर, जिससे वह बात कही गई हो। यह मानवीय दुर्बलता की परा काष्ठा है। वह नईम, जिसका अंदर और बाहर एक था, जिसके विचार और व्यवहार में भेद न था, जिसकी वाणी आंतरिक भावों का दर्पण थी, वह नईम, वह सरल, आत्माभिमानी, सत्यभक्त नईम, इतना धूर्त, ऐसा मक्कार, हो सकता है ! क्या दासता के साँचे में ढलकर मनुष्य अपना मनुष्यत्व भी खो बैठता है ? क्या यह दिव्य गुणों के रूपांतरित करने का यंत्र है ?

अदालत ने नईम को २० हज़ार रुपयों की डिक्री दे दी। कैलास पर मानो वज्रपात हो गया।

(६)

इस निश्चय पर राजनीतिक संसार में फिर कुहराम मचा। सरकारी पक्ष के पत्रों ने कैलास को धूर्त कहा; जन-पक्षवालों ने नईम को शैतान बनाया। नईम के दुस्साहस ने न्याय की दृष्टि में चाहे उसे निरपराध सिद्ध कर दिया हो, पर जनता की दृष्टि में तो और भी गिरा दिया। कैलास के पास सहानुभूति के पत्र और तार आने लगे। पत्रों में उसकी निर्भीकता और सत्य-निष्ठा की प्रशंसा होने लगी। जगह-जगह सभाएँ और जलसे हुए, और न्यायालय के निश्चय पर असंतोष

प्रकट किया गया। किंतु सूखे बादलों से पृथ्वी की तृप्ति तो नहीं होती? रुपए कहाँ से आवें, और वह भी एकदम से २० हज़ार! आदर्श-पालन का यही मूल्य है; राष्ट्र-सेवा महँगा सौदा है। २० हज़ार! इतने रुपए तो कैलास ने शायद स्वप्न में भी न देखे हों, और अब देने पड़ेंगे। कहाँ से देगा? इतने रुपयों के सूद से ही वह जीविका की चिंता से मुक्त हो सकता था। उसे अपने पत्र में अपनी विपत्ति का रोना रोकर चंदा एकत्र करने से घृणा थी। मैंने अपने ग्राहकों की अनुमति लेकर इस शेर से मोर्चा नहीं लिया था। मैनेजर की वकालत करने के लिये किसी ने मेरी गरदन नहीं दबाई थी। मैंने अपना कर्तव्य समझकर ही शासकों को चुनौती दी। जिस काम के लिये मैं, अकेला मैं, ज़िम्मेदार हूँ, उसका भार अपने ग्राहकों पर क्यों डालूँ! यह अन्याय है। संभव है, जनता में आंदोलन करने से दो-चार हज़ार रुपए हाथ आ जायँ; लेकिन यह संपादकीय आदर्श के विरुद्ध है। इससे मेरी शान में बट्टा लगता है। दूसरों को यह कहने का क्यों अवसर दूँ कि और के मत्थे फुलौड़ियाँ खाईं, तो क्या बड़ा जग जीत लिया! जब जानते कि अपने बल-बूते पर गरजते! निर्भीक आलोचना का सेहरा तो मेरे सिर बँधा; उसका मूल्य दूसरों से क्यों वसूल करूँ? मेरा पत्र बंद हो जाय, मैं पकड़कर क़ैद किया जाऊँ, मेरा मकान क़ुर्क़ कर लिया जाय, बरतन-भाँड़े नीलाम हो जायँ, यह सब मुझे मंज़ूर है। जो कुछ सिर पड़ेगी, भुगत लूँगा, पर किसी के सामने हाथ न फैलाऊँगा।

सूर्योदय का समय था। पूर्व दिशा से प्रकाश की छटा ऐसे दौड़ी चली आती थी, जैसे आँखों में आँसुओं की धारा। ठंडी हवा कलेजे पर यों लगती थी, जैसे किसी के करुण क्रंदन की ध्वनि। सामने का मैदान दुखी हृदय की भाँति ज्योति के बाणों से बिंध रहा था। घर में वह निस्तब्धता छाई हुई थी, जो गृह-स्वामी के गुप्त रोदन की सूचना देती है। न बालकों

का शोर-गुल था, और न माता की शांति-प्रसारिणी शब्द-ताड़ना। जब दीपक बुझ रहा हो, तो घर में प्रकाश कहाँ से आवे ? यह आशा का प्रभाव नहीं, शोक का प्रभाव था; क्योंकि आज ही कुर्क-अमीन कैलास की संपत्ति को नीलाम करने के लिये आनेवाला था।

उसने अंतर्वेदना से विकल होकर कहा—"आह ! आज मेरे सार्वजनिक जीवन का अंत हो जायगा। जिस भवन का निर्माण करने में अपने जीवन के २५ वर्ष लगा दिए, वह आज नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। पत्र की गरदन पर छुरी फिर जायगी, मेरे पैरों में उपहास और अपमान की बेड़ियाँ पड़ जायँगी, मुख में कालिमा लग जायगी, यह शांति-कुटीर उजड़ जायगी, यह शोकाकुल परिवार किसी मुरझाए हुए फूल की पंखुड़ियों की भाँति बिखर जायगा। संसार में उसके लिये कहीं आश्रय नहीं है। जनता की स्मृति चिरस्थायी नहीं होती; अल्प काल में मेरी सेवाएँ विस्मृति के अंधकार में लीन हो जायँगी। किसी को मेरी सुध भी न रहेगी, कोई मेरी विपत्ति पर आँसू बहानेवाला भी न होगा।"

सहसा उसे याद आया कि आज के लिये अभी अग्रलेख लिखना है। आज अपने सुहृद् पाठकों को सूचना दूँ कि यह इस पत्र के जीवन का अंतिम दिवस है, उसे फिर आपकी सेवा में पहुँचने का सौभाग्य न प्राप्त होगा। हमसे अनेक भूलें हुई होंगी, आज हम उनके लिये आपसे क्षमा माँगते हैं। आपने हमारे प्रति जो सहवेदना और सहृदयता प्रकट की है, उसके लिये हम सदैव आपके कृतज्ञ रहेंगे। हमें किसी से कोई शिकायत नहीं। हमें इस अकाल मृत्यु से डर नहीं; क्योंकि यह सौभाग्य उन्हीं को प्राप्त होता है, जो अपने कर्तव्य-पथ पर अविचल रहते हैं। दुःख यही है कि हम जाति के लिये इससे अधिक बलिदान करने में समर्थ न हुए।

इसी लेख को आदि से अंत तक सोचकर वह कुरसी से उठा ही था कि किसी के पैरों की आहट मालूम हुई। गरदन उठाकर देखा, तो मिरज़ा

नईम था। वही हँसमुख चेहरा, वही मंद मुसकान, वही क्रीड़ामय नेत्र। आते ही कैलास के गले से लिपट गया।

कैलास ने गरदन छुड़ाते हुए कहा—"क्या मेरे घाव पर नमक छिड़कने, मेरी लाश को पैरों से ठुकराने आए हो?"

नईम ने उसकी गरदन को और ज़ोर से दबाकर कहा—"और क्या, मुहब्बत के यही तो मज़े हैं!"

कैलास—"मुझसे दिल्लगी न करो। मरा बैठा हूँ, मार बैठूँगा।"

नईम की आँखें सजल हो गईं। बोला—"आह ज़ालिम! मैं तेरी ज़बान से यही कटु वाक्य सुनने के लिये तो विकल हो रहा था। जितना चाहे कोसो, खूब गालियाँ दो, मुझे इसमें मधुर संगीत का आनंद आ रहा है।"

कैलास—"और, अभी जब अदालत का कुर्क-अमीन मेरा घरबार नीलाम करने आवेगा, तो क्या होगा? बोलो, अपनी जान बचाकर तो अलग हो गए!"

नईम—"हम दोनो मिलकर खूब तालियाँ बजावेंगे, और उसे बंदर की तरह नचावेंगे।"

कैलास—"तुम अब पिटोगे मेरे हाथों से! ज़ालिम, तुझे मेरे बच्चों पर भी दया न आई?"

नईम—"तुम भी तो चले मुझी से ज़ोर आज़माने। कोई समय था, जब बाज़ी तुम्हारे हाथ रहती थी, अब मेरी बारी है। तुमने मौक़ा-महल तो देखा नहीं, मुझी पर पिल पड़े।"

कैलास—"सरासर सत्य की उपेक्षा करना मेरे सिद्धांत के विरुद्ध था।"

नईम—"और सत्य का गला घोटना मेरे सिद्धांत के अनुकूल।"

कैलाश—"अभी एक पूरा परिवार तुम्हारे गले मढ़ दूँगा, तो अपनी क़िस्मत को रोओगे। देखने में तुम्हारा आधा भी नहीं हूँ; लेकिन संतानोत्पत्ति में तुम-जैसे तीन पर भारी हूँ। पूरे सात हैं, कम न बेश।"

नईम—"अच्छा लाओ, कुछ खिलाते-पिलाते हो, या तक़दीर का मरसिया ही गाए जाओगे? तुम्हारे सिर की क़सम, बहुत भूखा हूँ। घर से विना खाना खाए ही चल पड़ा।"

कैलास—'यहाँ आज सोलहो दंड एकादशी है। सब-के-सब शोक में बैठे उसी अदालत के जल्लाद की राह देख रहे हैं। खाने-पीने का क्या ज़िक्र! तुम्हारे बेग में कुछ हो, तो निकालो। आज साथ बैठकर खा लें, फिर तो ज़िंदगी-भर का रोना है ही?"

नईम—"फिर तो ऐसी शरारत न करोगे?"

कैलास—"वाह, यह तो अपने रोम-रोम में व्याप्त हो गई है। जब तक सरकार पशु-बल से हमारे ऊपर शासन करती रहेगी, हम उसका विरोध करते रहेंगे। खेद यही है कि अब मुझे उसका अवसर ही न मिलेगा। किंतु तुम्हें २०,०००) में से २०) भी न मिलेंगे। यहाँ रद्दियों के ढेर के सिवा और कुछ नहीं है।"

नईम—"अजी, मैं तुमसे २० हज़ार की जगह उसका पँचगुना वसूल कर लूँगा। तुम हो किस फेर में?"

कैलास—"मुँह धो रखिए!"

नईम—"मुझे रुपयों की ज़रूरत है। आओ, कोई समझौता कर लो।"

कैलास—"कुँवर साहब के २० हज़ार रुपए डकार गए, फिर भी अभी संतोष नहीं हुआ? बदहज़मी हो जायगी!"

नईम—"धन से धन की भूख बढ़ती है, तृप्ति नहीं होती। आओ, कुछ मामला कर लो। सरकारी कर्मचारियों द्वारा मामला करने में और ज़ेरबारी होगी।"

कैलास—"अरे, तो क्या मामला कर लूँ। यहाँ काग़ज़ों के सिवा और कुछ हो भी तो!"

नईम—"मेरा ऋण चुकाने-भर को बहुत है। अच्छा, इसी बात पर समझौता कर लो कि मैं जो चीज़ चाहूँ, ले लूँ। फिर रोना मत।"

कैलास—"अजी, तुम सारा दफ़्तर सिर पर उठा ले जाओ, घर उठा ले जाओ, और मीठे टुकड़े खिलाओ। क़सम ले लो। जो ज़रा चूँ करूँ।"

नईम—"नहीं, मैं सिर्फ़ एक चीज़ चाहता हूँ, सिर्फ़ एक चीज़।"

कैलास के कौतूहल की कोई सीमा न रही। सोचने लगा, मेरे पास ऐसी कौन-सी बहुमूल्य वस्तु है। कहीं मुझसे मुसलमान होने को तो न कहेगा। यही धर्म एक चीज़ है, जिसका मूल्य एक से लेकर असंख्य तक रक्खा जा सकता है। जरा देखूँ तो, हजरत क्या कहते हैं।

उसने पूछा—"क्या चीज़?"

नईम—"मिसेज़ कैलास से एक मिनट तक एकांत में बातचीत करने की आज्ञा।"

कैलास ने नईम के सिर पर एक चपत जमाकर कहा—"फिर वही शरारत! सैकड़ों बार तो देख चुके हो, ऐसी कौन-सी इंद्र की अप्सरा है?"

नईम—"वह कुछ भी हो, मामला करते हो, तो करो; मगर याद रखना, एकांत की शर्त है।"

कैलास—"मंज़ूर है। मगर फिर जो डिक्री के रुपए माँगे गए, तो नोच ही खाऊँगा।"

नईम—"हाँ, मंज़ूर है।"

कैलास—(धीरे से) "मगर यार, नाज़ुक-मिज़ाज स्त्री है; कोई बेहूदा मज़ाक़ न कर बैठना।"

नईम—"जी, इन बातों में मुझे आपके उपदेश की ज़रूरत नहीं। मुझे उनके कमरे में ले तो चलिए।"

कैलास—"सिर नीचा किए रहना।"

नईम—"अजी, आँखों में पट्टी बाँध दो।"

कैलास के घर में परदा न था। उमा चिंता-मग्न बैठी हुई थी। सहसा नईम और कैलास को देखकर चौंक पड़ी। बोली—"आइए मिरज़ाजी, अब की तो बहुत दिनों में याद किया।"

कैलास नईम को वहीं छोड़कर कमरे के बाहर निकल आया। लेकिन परदे की आड़ से छिपकर देखने लगा कि इनमें क्या बातें होती हैं। उसे कुछ बुरा ख़याल न था, केवल कौतूहल था।

नईम—"हम सरकारी आदमियों को इतनी फ़ुरसत कहाँ? डिक्री के रुपए वसूल करने थे, इसलिये चला आया हूँ।"

उमा कहाँ तो मुस्किरा रही थी, कहाँ रुपयों का नाम सुनते ही उसका चेहरा फ़क़ हो गया। गंभीर स्वर में बोली—"हम लोग स्वयं इसी चिंता में पड़े हुए हैं। कहीं रुपए मिलने की आशा नहीं है, और उन्हें जनता से अपील करते संकोच होता है।"

नईम—"अजी, आप कहती क्या हैं? मैंने तो सब रुपए पाई-पाई वसूल कर लिए।"

उमा ने चकित होकर कहा—"सच! उनके पास रुपए कहाँ थे?"

नईम—"उनकी हमेशा से यही आदत है। आपसे कह रक्खा होगा, मेरे पास कौड़ी नहीं है, लेकिन मैंने चुटकियों में वसूल कर लिया। आप उठिए, खाने का इंतज़ाम कीजिए!"

उमा—"रुपए भला क्या दिए होंगे। मुझे एतबार नहीं आता।"

नईम—"आप सरल हैं, और वह एक ही काइयाँ। उसे तो मैं ही ख़ूब जानता हूँ। अपनी दरिद्रता के दुखड़े गा-गाकर आपको चकमा दिया करता होगा।"

कैलास मुस्किराते हुए कमरे में आए, और बोले—"अच्छा, अब निकलिए बाहर! यहाँ भी अपनी शैतानी से बाज़ नहीं आए?"

नईम—"रुपयों की रसीद तो लिख दूँ!"

उमा—"क्या तुमने रुपए दे दिए? कहाँ मिले?"

कैलास—"फिर कभी बतला दूँगा।—उठिए हज़रत।"

उमा—"बताते क्यों नहीं, कहाँ मिले? मिरज़ाजी से कौन-सा परदा है?"

कैलास—"नईम, तुम उमा के सामने मेरी तौहीन करना चाहते हो?"

नईम—"तुमने सारी दुनिया के सामने मेरी तौहीन नहीं की ?"

कैलास—"तुम्हारी तौहीन की, तो उसके लिये २० हज़ार रुपए नहीं देने पड़े !"

नईम—"मैं भी उसी टकसाल के रुपए दे दूँगा। उमा, मैं रुपया पा गया। इन बेचारे का परदा ढका रहने दो।"

मुक्ति-मार्ग

(१)

सिपाही को अपनी लाल पगड़ी पर, सुंदरी को अपने गहनों पर और वैद्य को अपने सामने बैठे हुए रोगियों पर जो घमंड होता है, वही किसान को अपने खेतों को लहराते हुए देखकर होता है। झींगुर अपने ऊख के खेतों को देखता, तो उस पर नशा-सा छा जाता! तीन बीघे ऊख थी। इसके ६००) तो अनायास ही मिल जायँगे। और, जो कहीं भगवान् ने डाँड़ी तेज़ कर दी, फिर क्या पूछना। दोनो बैल बुड्ढे हो गए। अब की नई गोई बटेसर के मेले से ले आवेगा। कहीं दो बीघे खेत और मिल गए, तो लिखा लेगा। रुपयों की क्या चिंता है। बनिए अभी से उसकी ख़ुशामद करने लगे थे। ऐसा कोई न था, जिससे उसने गाँव में लड़ाई न की हो। वह अपने आगे किसी को कुछ समझता ही न था।

एक दिन संध्या के समय वह अपने बेटे को गोद में लिए मटर की फलियाँ तोड़ रहा था। इतने में उसे भेड़ों का एक झुंड अपनी तरफ़ आता दिखाई दिया। वह अपने मन में कहने लगा, इधर से भेड़ों के निकालने का रास्ता न था। क्या खेत की मेड़ पर से भेड़ों का झुंड नहीं जा सकता था? भेड़ों को इधर से लाने की क्या ज़रूरत? ये खेत को कुचलेंगी, चरेंगी। इसका डाँड़ कौन देगा? मालूम होता है, बुद्धू गड़रिया है। बचा को घमंड हो गया है, तभी तो खेतों के बीच से भेड़ें लिए चला आता है। ज़रा इसकी ढिठाई तो देखो। देख रहा है कि मैं खड़ा हूं, फिर भी भेड़ों को लौटाता नहीं। कौन मेरे साथ कभी रियायत की है कि मैं इसकी मुरौवत करूँ? अभी एक भेड़ा मोल माँगूँ,

तो पाँच ही रुपए सुनावेगा। सारी दुनिया में चार-चार रुपए के कंबल बिकते हैं, पर यह पाँच रुपए से नीचे बात नहीं करता।

इतने में भेड़ें खेत के पास आ गईं। झींगुर ने ललकारकर कहा—"अरे, ये भेड़ें कहाँ लिए आते हो? कुछ सूझता है कि नहीं?"

बुद्धू नम्र भाव से बोला—"महतो, डाँड़ पर से निकल जायँगे। घूमकर जाऊँगा, तो कोस-भर का चक्कर पड़ेगा।"

झींगुर—तो तुम्हारा चक्कर बचाने के लिये मैं अपना खेत क्यों कुचलाऊँगा? डाँड़ ही पर से ले जाना है, तो और खेतों के डाँड़ से क्यों नहीं ले गए? क्या मुझे कोई चूहड़-चमार समझ लिया है? या धन का घमंड हो गया है? लौटाओ इनको!"

बुद्धू—"महतो, आज निकल जाने दो। फिर कभी इधर से आऊँ, तो जो चाहे सज़ा देना।"

झींगुर—"कह दिया कि लौटाओ इन्हें। अगर एक भेड़ भी मेड़ पर आई, तो समझ लो, तुम्हारी ख़ैर नहीं।"

बुद्धू—"महतो, अगर तुम्हारी एक बेल भी किसी भेड़ के पैरों-तले आ जाय, तो मुझे बिठाकर सौ गालियाँ देना।"

बुद्धू बातें तो बड़ी नम्रता से कर रहा था, किंतु लौटने में अपनी हेठी समझता था। उसने मन में सोचा, इसी तरह ज़रा-ज़रा-सी धमकियों पर भेड़ों को लौटाने लगा, तो फिर मैं भेड़ें चरा चुका! आज लौट जाऊँ, तो कल को कहीं निकालने का रास्ता ही न मिलेगा। सभी रोब जमाने लगेंगे।

बुद्धू भी पोढ़ा आदमी था। १२ कोड़ी भेड़ें थीं। उन्हें खेतों में बिठाने के लिये फ़ी रात ॥) कोड़ी मज़दूरी मिलती थी। इसके उपरांत दूध बेचता था; ऊन के कंबल बनाता था। सोचने लगा, इतने गरम हो रहे हैं, मेरा कर ही क्या लेंगे? कुछ इनका दबैल तो हूँ नहीं। भेड़ों ने जो हरी-हरी पत्तियाँ देखीं, तो अधीर हो गईं। खेत

में घुस पड़ीं। बुद्धू उन्हें डंडों से मार-मारकर खेत के किनारे से हटाता था, और वे इधर-उधर से निकलकर खेत में जा पड़ती थीं। झींगुर ने आग होकर कहा—"तुम मुझसे हेकड़ी जताने चले हो, तो तुम्हारी सारी हेकड़ी निकाल दूँगा।"

बुद्धू—"तुम्हें देखकर चौंकती हैं। तुम हट जाओ, तो मैं सबको निकाल ले जाऊँ।"

झींगुर ने लड़के को तो गोद से उतार दिया, और अपना डंडा सँभालकर भेड़ों पर पिल पड़ा। धोबी इतनी निर्दयता से अपने गधे को न पीटता होगा। किसी भेड़ की टाँग टूटी, किसी की कमर टूटी। सबने बें-बें का शोर मचाना शुरू किया। बुद्धू चुपचाप खड़ा अपनी सेना का विध्वंस अपनी आँखों से देखता रहा। वह न भेड़ों को हांकता था, न झींगुर से कुछ कहता था। बस खड़ा तमाशा देखता रहा। दो मिनट में झींगुर ने इस सेना को अपने अमानुषिक पराक्रम से मार भगाया। मेष-दल का संहार करके विजय-गर्व से बोला—"अब सीधे चले जाओ। फिर इधर से आने का नाम न लेना।"

बुद्धू ने आहत भेड़ों की ओर देखते हुए कहा—"झींगुर, तुमने यह अच्छा काम नहीं किया। पछताओगे।"

(२)

केले को काटना भी इतना आसान नहीं, जितना किसान से बदला लेना। उसकी सारी कमाई खेतों में रहती है, या खलिहानों में। कितनी ही दैविक और भौतिक आपदाओं के बाद कहीं नाज घर में आता है। और, जो कहीं इन आपदाओं के साथ विद्रोह ने भी संधि कर ली, तो बेचारा किसान कहीं का नहीं रहता। झींगुर ने घर आकर दूसरों से इस संग्राम का वृत्तांत कहा, तो लोग समझाने लगे—"झींगुर, तुमने बड़ा अनर्थ किया। जानकर अनजान बनते हो! बुद्धू को जानते नहीं, कितना झगड़ालू आदमी है। अब भी कुछ नहीं बिगड़ा। जाकर उसे

मना लो। नहीं तो तुम्हारे साथ सारे गाँव पर आफ़त आ जायगी।" झींगुर की समझ में बात आई। पछताने लगा कि मैंने कहाँ से कहाँ उसे रोका। अगर भेड़ें थोड़ा-बहुत चर ही जातीं, तो कौन मैं उजड़ा जाता था। वास्तव में हम किसानों का कल्यान दबे रहने में है। ईश्वर को भी हमारा सिर उठाकर चलना अच्छा नहीं लगता। जी तो बुद्धू के घर जाने को न चाहता था, किंतु दूसरों के आग्रह से मजबूर होकर चला। अगहन का महीना था, कुहरा पड़ रहा था। चारो ओर अंधकार छाया हुआ था। गाँव से बाहर निकला ही था कि सहसा अपने ऊख के खेत की ओर अग्नि की ज्वाला देखकर चौंक पड़ा। छाती धड़कने लगी। खेत में आग लगी हुई थी। बेतहाशा दौड़ा। मनाता जाता था कि मेरे खेत में न हो। पर ज्यों-ज्यों समीप पहुँचता था, वह आशामय भ्रम शांत होता जाता था। वह अनर्थ हो ही गया, जिसके निवारण के लिये घर से चला था। हत्यारे ने आग लगा ही दी, और मेरे पीछे सारे गाँव को चौपट किया। उसे ऐसा जान पड़ता था कि वह खेत आज बहुत समीप आ गया है, मानो बीच के परती खेतों का अस्तित्व ही नहीं रहा। अंत में जब वह खेत पहुँचा, तो आग प्रचंड रूप धारण कर चुकी थी। झींगुर ने 'हाय-हाय' मचाना शुरू किया। गाँव के लोग दौड़ पड़े, और खेतों से अरहर के पौदे उखाड़-उखाड़कर आग को पीटने लगे। अग्नि-मानव-संग्राम का भीषण दृश्य उपस्थित हो गया। एक पहर तक हाहाकार मचा रहा। कभी एक पक्ष प्रबल होता था, कभी दूसरा। अग्नि-पक्ष के योद्धा मर-मरकर जी उठते थे, और द्विगुण शक्ति से, रणोन्मत्त होकर शस्त्र-प्रहार करने लगते थे। मानव-पक्ष में जिस योद्धा की कीर्ति सबसे उज्ज्वल थी, वह बुद्धू था। बुद्धू कमर तक धोती चढ़ाए, प्राण हथेली पर लिए, अग्नि-राशि में कूद पड़ता था, और शत्रुओं को परास्त करके, बाल-बाल बचकर, निकल आता था। अंत में मानव-दल की विजय हुई; किंतु ऐसी विजय जिस पर हार भी हँसती। गाँव-भर की ऊख

जलकर भस्म हो गई, और ऊख के साथ सारी अभिलाषाएं भी भस्म हो गईं।

(३)

आग किसने लगाई, यह खुला हुआ भेद था; पर किसी को कहने का साहस न था। कोई सबूत नहीं। प्रमाण-हीन तर्क का मूल्य ही क्या? झींगुर को घर से निकलना मुश्किल हो गया। जिधर जाता, ताने सुनने पड़ते। लोग प्रत्यक्ष कहते थे—"यह आग तुमने लगवाई, तुम्हीं ने हमारा सर्वनाश किया। तुम्हीं मारे घमंड के धरती पर पैर न रखते थे। आप के आप गए, अपने साथ गाँव-भर को डुबो दिया। बुद्धू को न छेड़ते, तो आज क्यों यह दिन देखना पड़ता?" झींगुर को अपनी बर-बादी का इतना दुःख न था, जितना इन जली-कटी बातों का। दिन-भर घर में बैठा रहता। पूस का महीना आया। जहाँ सारी रात कोल्हू चला करते थे, गुड़ की सुगंध उड़ती रहती थी, भट्ठियाँ जलती रहती थीं, और लोग भट्ठियों के सामने बैठे हुक्का पिया करते थे, वहाँ सन्नाटा छाया हुआ था। ठंड के मारे लोग साँझ ही से किवाड़े बंद करके पड़ रहते, और झींगुर को कोसते। माघ और भी कष्टदायक था। ऊख केवल धन-दाता ही नहीं, किसानों की जीवनदाता भी है। उसी के सहारे किसानों का जाड़ा कटता है। नरम रस पीते हैं, ऊख की पत्तियाँ तापते हैं, उसके अगोड़े पशुओं को खिलाते हैं। गाँव के सारे कुत्ते, जो रात को भट्ठियों की राख में सोया करते थे, ठंड से मर गए; कितने ही जानवर चारे के अभाव से चल बसे। शीत का प्रकोप हुआ, और सारा गाँव खाँसी-बुखार में ग्रस्त हो गया। और, यह सारी विपत्ति झींगुर की करनी थी—अभागे, हत्यारे झींगुर की!

झींगुर ने सोचते-सोचते निश्चय किया कि बुद्धू की दशा भी अपनी ही-सी बनाऊँगा। उसके कारण मेरा सर्वनाश हो गया, और वह चैन की बंशी बजा रहा है। मैं भी उसका सर्वनाश करूँगा!

जिस दिन इस घातक कलह का बीजारोपण हुआ, उसी दिन से बुद्धू ने इधर आना छोड़ दिया। झींगुर ने उससे रब्त-ज़ब्त बढ़ाना शुरू किया। वह बुद्धू को दिखाना चाहता था कि तुम्हारे ऊपर मुझे बिलकुल संदेह नहीं। एक दिन कंबल लेने के बहाने गया, फिर दूध लेने के बहाने। बुद्धू उसका ख़ूब आदर-सत्कार करता। चिलम तो आदमी दुश्मन को भी पिला देता है, वह उसे विना दूध और शर्बत पिलाए न आने देता। झींगुर आजकल एक सन लपेटनेवाली कल में मज़दूरी करने जाया करता था। बहुधा कई-कई दिनों की मज़दूरी इकट्ठी मिलती थी। बुद्धू ही की तत्परता से झींगुर का रोज़ाना खर्च चलता था। अतएव झींगुर ने ख़ूब रब्त-ज़ब्त बढ़ा लिया। एक दिन बुद्धू ने पूछा—"क्यों झींगुर, अगर अपनी ऊख जलानेवाले को पा जाओ, तो क्या करो? सच कहना।"

झींगुर ने गंभीर भाव से कहा—"मैं उससे कहूँ, भैया, तुमने जो कुछ किया, बहुत अच्छा किया। मेरा घमंड तोड़ दिया; मुझे आदमी बना दिया।"

बुद्धू—"मैं जो तुम्हारी जगह होता, तो विना उसका घर जलाए न मानता।"

झींगुर—"चार दिन की ज़िंदगानी में वैर-विरोध बढ़ाने से क्या फ़ायदा? मैं तो बरबाद हुआ ही, अब उसे बरबाद करके क्या पाऊँगा?"

बुद्धू—"बस, यही तो आदमी का धर्म है। पर भाई, क्रोध के बस होकर बुद्धि उलटी हो जाती है।"

(४)

फागुन का महीना था। किसान ऊख बोने के लिये खेतों को तैयार कर रहे थे। बुद्धू का बाज़ार गरम था। भेड़ों की लूट मची हुई थी। दो-चार आदमी नित्य द्वार पर खड़े ख़ुशामदें किया करते। बुद्धू किसी से सीधे मुँह बात न करता। भेड़ रखने की फ़ीस दूनी कर दी थी। अगर कोई एतराज़ करता, तो बेलाग कहता—"तो भैया, भेड़ें तुम्हारे गले तो

नहीं लगाता हूँ। जी न चाहे, मत रक्खो। लेकिन मैंने जो कह दिया है, उससे एक कौड़ी भी कम नहीं हो सकती।" गरज़ थी, लोग इस रुखाई पर भी उसे घेरे रहते थे, मानो पंडे किसी यात्री के पीछे पड़े हों।

लक्ष्मी का आकार तो बहुत बड़ा नहीं, और वह भी समयानुसार छोटा-बड़ा होता रहता है। यहाँ तक कि कभी वह अपना विराट् आकार समेटकर उसे कागज़ के चंद अक्षरों में छिपा लेती हैं। कभी-कभी तो मनुष्य की जिह्वा पर जा बैठती हैं; आकार का लोप हो जाता है। किंतु उनके रहने को बहुत स्थान की ज़रूरत होती है। वह आई, और घर बढ़ने लगा। छोटे घर में उनसे नहीं रहा जाता। बुद्धू का घर भी बढ़ने लगा। द्वार पर बरामदा डाला गया, दो की जगह छ कोठरियाँ बनवाई गईं। यों कहिए कि मकान नए सिरे से बनने लगा। किसी किसान से लकड़ी माँगी, किसी से खपरों का आवा लगाने के लिये उपले, किसी से बाँस और किसी से सरकंडे। दीवार की उठवाई देनी पड़ी। वह भी नकद नहीं, भेड़ों के बच्चों के रूप में। लक्ष्मी का यह प्रताप है। सारा काम बेगार में हो गया। मुफ़्त में अच्छा-खासा घर तैयार हो गया। गृह-प्रवेश के उत्सव की तैयारियाँ होने लगीं।

इधर झींगुर दिन-भर मज़दूरी करता, तो कहीं आधे पेट अन्न मिलता। बुद्धू के घर कंचन बरस रहा था। झींगुर जलता था, तो क्या बुरा करता था? यह अन्याय किससे सहा जायगा?

एक दिन वह टहलता हुआ चमारों के टोले की तरफ़ चला गया। हरिहर को पुकारा। हरिहर ने आकर राम-राम की, और चिलम भरी। दोनों पीने लगे। यह चमारों का मुखिया बड़ा दुष्ट आदमी था। सब किसान इससे थर-थर काँपते थे।

झींगुर ने चिलम पीते-पीते कहा—"आजकल फाग-वाग नहीं होता क्या? सुनाई नहीं देता।"

हरिहर—"फाग क्या हो, पेट के धंधे से छुट्टी ही नहीं मिलती। कहो, तुम्हारी आजकल कैसी निभती है ?"

झींगुर—"क्या निभती है। 'नकटा जिया बुरे हवाल !' दिन-भर कल में मज़दूरी करते हैं, तो चूल्हा जलता है। चाँदी तो आजकल बुद्धू की है। रखने को ठौर नहीं मिलता। नया घर बना, भेड़ें और ली हैं। अब गृहीपरबेस की धूम है। सातों गाँवों में सुपारी जायगी।"

हरिहर—"लक्ष्मी मैया आती हैं, तो आदमी की आँखों में सील आ जाता है। पर उसको देखो, धरती पर पैर ही नहीं रखता। बोलता है, तो ऐंठकर ही बोलता है।"

झींगुर—"क्यों न ऐंठे, इस गाँव में कौन है उसकी टक्कर का ! पर यार, यह अनीति तो नहीं देखी जाती। भगवान् दे, तो सिर झुकाकर चलना चाहिए। यह नहीं कि अपने बराबर किसी को समझे ही नहीं। उसकी डींग सुनता हूँ, तो बदन में आग लग जाती है। कल का बागी आज का सेठ। चला है हमीं से अकड़ने। अभी कल लँगोटी लगाए खेतों में कौए हँकाया करता था, आज उसका आसमान में दिया जलता है।"

हरिहर—"कहो, तो कुछ उताजोग करूँ ?"

झींगुर—"क्या करोगे ? इसी डर से तो वह गाय-भैंस नहीं पालता।"

हरिहर—"भेड़ें तो हैं ?"

झींगुर—"क्या बगला मारे पखना हाथ।"

हरिहर—"फिर तुम्हीं सोचो।"

झींगुर—"ऐसी जुगुत निकालो कि फिर पनपने न पावे।"

इसके बाद फुस-फुस करके बात होने लगी। यह एक रहस्य है कि भलाइयों में जितना द्वेष होता है, बुराइयों में उतना ही प्रेम। विद्वान् विद्वान् को देखकर, साधु साधु को देखकर और कवि कवि को देखकर जलता है। एक दूसरे की सूरत नहीं देखना चाहता। पर जुआरी जुआरी को देखकर, शराबी शराबी को देखकर, चोर चोर को देखकर सहानुभूति

दिखाता है, सहायता करता है। एक पंडितजी अगर अँधेरे में ठोकर खाकर गिर पड़ें, तो दूसरे पंडितजी उन्हें उठाने के बदले दो ठोकरें और लगावेंगे कि वह फिर उठ ही न सकें। पर एक चोर पर आफ़त आई देख दूसरा चोर उसकी आड़ कर लेता है। बुराई से सब घृणा करते हैं, इसलिये बुरों में परस्पर प्रेम होता है। भलाई की सारा संसार प्रशंसा करता है, इसलिये भलों में विरोध होता है। चोर को मारकर चोर क्या पावेगा ? घृणा। विद्वान् का अपमान करके विद्वान् क्या पावेगा ? यश।

झींगुर और हरिहर ने सलाह कर ली। षड्यंत्र रचने की विधि सोची गई। उसका स्वरूप, समय और क्रम ठीक किया गया। झींगुर चला, तो अकड़ा जाता था। मार लिया दुश्मन को, अब कहाँ जाता है !

(५)

दूसरे दिन झींगुर काम पर जाने लगा, तो पहले बुद्धू के घर पहुँचा। बुद्धू ने पूछा—"क्यों, आज नहीं गए क्या ?"

झींगुर—"जा तो रहा हूँ, तुमसे यही कहने आया था कि मेरी बछिया को अपनी भेड़ों के साथ क्यों नहीं चरा दिया करते। बेचारी खूँटे से बँधी-बँधी मरी जाती है। न घास, न चारा, क्या खिलावें ?"

बुद्धू—"भैया, मैं गाय-भैंस नहीं रखता। चमारों को जानते हो, एक ही हत्यारे होते हैं। इसी हरिहर ने मेरी दो गउएँ मार डालीं। न-जाने क्या खिला देता है। तब से कान पकड़े कि अब गाय-भैंस न पालूँगा। लेकिन तुम्हारी एक ही बछिया है, उसका कोई क्या करेगा। जब चाहो, पहुँचा दो।"

यह कहकर बुद्धू अपने गृहोत्सव का सामान उसे दिखाने लगा। घी, शक्कर, मैदा, तरकारी, सब मँगा रक्खा था। केवल सत्यनारायण की कथा की देर थी। झींगुर की आँखें खुल गईं। ऐसी तैयारी न उसने स्वयं कभी की थी, और न किसी को करते देखी थी। मज़दूरी करके घर लौटा, तो सबसे पहला काम जो उसने किया, वह अपनी बछिया को बुद्धू के घर

पहुँचाना था। उसी रात को बुद्धू के यहाँ सत्यनारायण की कथा हुई। ब्रह्मभोज भी किया गया। सारी रात विप्रों का आगत-स्वागत करते गुज़री। भेड़ों के झुंड में जाने का अवकाश ही न मिला। प्रातःकाल भोजन करके उठा ही था (क्योंकि रात का भोजन सबेरे मिला) कि एक आदमी ने आकर ख़बर दी—"बुद्धू, तुम यहाँ बैठे हो, उधर भेड़ों में बछिया मरी पड़ी है। भले आदमी, उसकी पगहिया भी नहीं खोली थी?"

बुद्धू ने सुना, और मानो ठोकर लग गई। झींगुर भी भोजन करके वहीं बैठा था। बोला—"हाय मेरी बछिया! चलो, ज़रा देखूँ तो, मैंने तो पगहिया नहीं लगाई थी। उसे भेड़ों में पहुँचाकर अपने घर चला गया। तुमने यह पगहिया कब लगा दी।"

बुद्धू—"भगवान् जानें, जो मैंने उसकी पगहिया देखी भी हो। मैं तो तब से भेड़ों में गया ही नहीं।"

झींगुर—"जाते न, तो पगहिया कौन लगा देता? गए होगे, याद न आती होगी।"

एक ब्राह्मण—"मरी तो भेड़ों में ही न? दुनिया तो यही कहेगी कि बुद्धू की असावधानी से उसकी मृत्यु हुई, पगहिया किसी की हो।"

हरिहर—"मैंने कल साँझ को इन्हें भेड़ों में बछिया को बांधते देखा था।"

बुद्धू—"मुझे!"

हरिहर—"तुम नहीं लाठी कंधे पर रक्खे बछिया को बाँध रहे थे?"

बुद्धू—"बड़ा सच्चा है तू। तूने मुझे बछिया को बाँधते देखा था?"

हरिहर—"तो मुझ पर काहे को बिगड़ते हो भाई? तुमने नहीं बाँधी, नहीं सही।"

ब्राह्मण—"इसका निश्चय करना होगा। गोहत्या का प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। कुछ हँसी-ठट्ठा है!"

झींगुर—"महाराज, कुछ जान-बूझकर तो बाँधी नहीं।"

ब्राह्मण—"इससे क्या होता है ? हत्या इसी तरह लगती है ; कोई गऊ को मारने नहीं जाता।"

झींगुर—"हाँ, गउओं को खोलना-बाँधना है तो जोखिम का काम।"

ब्राह्मण—"शास्त्रों में इसे महापाप कहा है। गऊ की हत्या ब्राह्मण की हत्या से कम नहीं।"

झींगुर—"हाँ, फिर गऊ तो ठहरी ही। इसी से न इसका मान होता है। जो माता, सो गऊ। लेकिन महराज, चूक हो गई। कुछ ऐसा कीजिए कि थोड़े में बेचारा निपट जाय।"

बुद्धू खड़ा सुन रहा था कि अनायास मेरे सिर हत्या मढ़ी जा रही है। झींगुर की कूट-नीति भी समझ रहा था। मै लाख कहूँ, मैंने बछिया नहीं बाँधी, मानेगा कौन ? लोग यही कहेंगे कि प्रायश्चित्त से बचने के लिये ऐसा कह रहा है।

ब्राह्मण देवता का भी उसका प्रायश्चित्त कराने में कल्याण होता था। भला, ऐसे अवसर पर कब चूकनेवाले थे। फल यह हुआ कि बुद्धू को हत्या लग गई। ब्राह्मण भी उससे जले हुए थे। कसर निकालने की घात मिली। तीन मास का भिक्षा-दंड दिया, फिर सात तीर्थ-स्थानों की यात्रा, उस पर ५०० विप्रों का भोजन और ५ गउओं का दान। बुद्धू ने सुना, तो बधिया बैठ गई। रोने लगा, तो दंड घटाकर दो मास का कर दिया। इसके सिवा कोई रियायत न हो सकी। न कहीं अपील, न कहीं फ़रियाद ! बेचारे को यह दंड स्वीकार करना पड़ा।

(६)

बुद्धू ने भेड़ें ईश्वर को सौंपीं। लड़के छोटे थे। स्त्री अकेली क्या-क्या करेगी। जाकर द्वारों पर खड़ा होता, और मुँह छिपाए हुए कहता—"गाय की बाछी दियो बनबास।" भिक्षा तो मिल जाती, किंतु भिक्षा के साथ दो-चार कठोर, अपमान-जनक शब्द भी सुनने पड़ते। दिन को जो कुछ पाता, वही शाम को किसी पेड़ के नीचे बनाकर खा लेता, और वहीं

पड़ रहता। कष्ट की तो उसे परवा न थी भेड़ों के साथ दिन-भर चलता ही था, पेड़ के नीचे सोता ही था, भोजन भी इससे कुछ ही अच्छा मिलता था; पर लज्जा थी भिक्षा माँगने की। विशेष करके जब कोई कर्कशा यह व्यंग्य कर देती थी कि रोटी कमाने का अच्छा ढंग निकाला है, तो उसे हार्दिक वेदना होती थी। पर करे क्या?

दो महीने बाद वह घर लौटा। बाल बढ़े हुए थे। दुर्बल इतना, मानो ६० वर्ष का बूढ़ा हो। तीर्थ-यात्रा के लिये रुपयों का प्रबंध करना था। गड़रियों को कौन महाजन क़र्ज़ दे? भेड़ों का भरोसा क्या? कभी-कभी रोग फैलता है, तो रात-भर में दल-का-दल साफ़ हो जाता है। उस पर जेठ का महीना, जब भेड़ से कोई आमदनी होने की आशा नहीं। एक तेली राज़ी भी हुआ, तो ≈) रुपया ब्याज पर। आठ महीने में ब्याज मूल के बराबर हो जायगा। यहाँ क़र्ज़ लेने की हिम्मत न पड़ी। इधर दो महीनों में कितनी ही भेड़ें चोरी चली गई थीं। लड़के चराने ले जाते थे। दूसरे गाँववाले चुपके से एक-दो भेड़ें किसी खेत या घर में छिपा देते, और पीछे मारकर खा जाते। लड़के बेचारे एक तो पकड़ न सकते, और जो देख भी लेते, तो लड़ें क्योंकर। सारा गाँव एक हो जाता था। एक महीने में तो भेड़ें आधी भी न रहेंगी। बड़ी विकट समस्या थी। विवश होकर बुद्धू ने एक बूचड़े को बुलाया, और सब भेड़ें उसके हाथ बेच डालीं। ५००) हाथ लगे। उनमें से २००) लेकर वह तीर्थ-यात्रा करने गया। शेष रुपए ब्रह्मभोज आदि के लिये छोड़ गया।

बुद्धू के जाने पर उसके घर में दो बार सेंध लगी। पर यह कुशल हुई कि जगहग हो जाने के कारण रुपए बच गए।

(७)

सावन का महीना था। चारो ओर हरियाली छाई हुई थी। झींगुर के बैल न थे। खेत बँटाई पर दे दिए थे। बुद्धू प्रायश्चित्त से निवृत्त

हो गया था, और उसके साथ ही माया के फंदे से भी। न झींगुर के पास कुछ था, न बुद्धू के पास। कौन किससे जलता, और किसलिये जलता?

सन की कल बंद हो जाने के कारण झींगुर अब बेलदारी का काम करता था। शहर में एक विशाल धर्मशाला बन रही थी। हज़ारों मज़दूर काम करते थे। झींगुर भी उन्हीं में था। सातवें दिन मज़दूरी के पैसे लेकर घर आता, और रात-भर रहकर सबेरे फिर चला जाता था।

बुद्धू भी मज़दूरी की टोह में यहीं पहुँचा। जमादार ने देखा, दुर्बल आदमी है, कठिन काम तो इससे हो न सकेगा, कारीगरों को गारा देने के लिये रख लिया। बुद्धू सिर पर तसला रक्खे गारा लेने गया, तो झींगुर को देखा। राम-राम हुई, झींगुर ने गारा भर दिया, बुद्धू उठा लाया। दिन-भर दोनो चुपचाप अपना-अपना काम करते रहे।

संध्या समय झींगुर ने पूछा—"कुछ बनाओगे न?"

बुद्धू—"नहीं तो खाऊँगा क्या?"

झींगुर—"मैं तो एक जून चबेना कर लेता हूँ। इस जून सत्तू पर काट देता हूँ। कौन झंझट करे।"

बुद्धू—"इधर-उधर लकड़ियाँ पड़ी हुई हैं, बटोर लाओ। आटा मैं घर से लेता आया हूँ। घर ही पर पिसवा लिया था। यहाँ तो बड़ा महँगा मिलता है। इसी पत्थर की चट्टान पर आटा गूँधे लेता हूँ। तुम तो मेरा बनाया खाओगे नहीं, इसलिये तुम्हीं रोटियाँ सेंको, मैं बना दूँगा।"

झींगुर—"तवा भी तो नहीं है।"

बुद्धू—"तवे बहुत हैं। यही गारे का तसला माँज लेता हूँ।"

आग जली, आटा गूँधा गया। झींगुर ने कच्ची-पक्की रोटियाँ बनाईं। बुद्धू पानी लाया। दोनो ने लाल मिर्च और नमक से रोटियाँ खाईं। फिर चिलम भरी गई। दोनो आदमी पत्थर की सिलों पर लेटे, और चिलम पीने लगे।

बुद्धू ने कहा—"तुम्हारी ऊख में आग मैंने लगाई थी।"

झींगुर ने विनोद के भाव से कहा—"जानता हूँ।" थोड़ी देर बाद झींगुर बोला—"बछिया मैंने ही बाँधी थी, और हरिहर ने उसे कुछ खिला दिया था।"

बुद्धू ने भी वैसे ही भाव से कहा—"जानता हूँ।" फिर दोनो सो गए।

शतरंज के खिलाड़ी

(१)

वाजिदअली शाह का समय था। लखनऊ विलासिता के रंग में डूबा हुआ था। छोटे-बड़े, अमीर-ग़रीब, सभी विलासिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था, तो कोई अफ़ीम की पीनक ही के मज़े लेता था। जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। शासन-विभाग में, साहित्य-क्षेत्र में, सामाजिक व्यवस्था में, कला-कौशल में, उद्योग-धंधों में, आहार-व्यवहार में, सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी। राजकर्मचारी विषय-वासना में, कविगण प्रेम और विरह के वर्णन में, कारीगर कलाबत्तू और चिकन बनाने में, व्यवसायी सुरमे, इत्र-मिस्सी और उबटन का रोज़गार करने में लिप्त थे। सभी की आँखों में विलासिता का मद छाया हुआ था। संसार में क्या हो रहा है, इसकी किसी को ख़बर न थी। बटेर लड़ रहे हैं। तीतरों की लड़ाई के लिये पाली बदी जा रही है। कहीं चौसर बिछी हुई है; पौ-बारह का शोर मचा हुआ है। कहीं शतरंज का घोर संग्राम छिड़ा हुआ है। राजा से लेकर रंक तक इसी धुन में मस्त थे। यहाँ तक कि फ़क़ीरों को पैसे मिलते, तो वे रोटियाँ न लेकर अफ़ीम खाते या मदक पीते। शतरंज, ताश, गंजीफ़ा खेलने से बुद्धि तीव्र होती है, विचार-शक्ति का विकास होता है, पेचीदा मसलों को सुलझाने की आदत पड़ती है, ये दलीलें ज़ोर के साथ पेश की जाती थीं (इस संप्रदाय के लोगों से दुनिया अब भी ख़ाली नहीं है)। इसलिये अगर मिर्ज़ा सज्जादअली और मीर रोशनअली अपना अधिकांश समय बुद्धि तीव्र करने में व्यतीत करते थे, तो किसी विचारशील पुरुष को क्या आपत्ति हो सकती थी?

दोनो के पास मौरूसी जागीरें थीं; जीविका की कोई चिंता न थी; घर में बैठे चखौतियाँ करते थे। आख़िर और करते ही क्या! प्रातःकाल दोनो मित्र नाश्ता करके, बिसात बिछाकर बैठ जाते, मुहरे सज जाते, और लड़ाई के दाँव-पेंच होने लगते। फिर ख़बर न होती थी कि कब दोपहर हुई, कब तीसरा पहर, कब शाम। घर के भीतर से बार-बार बुलावा आता—खाना तैयार है। यहाँ से जवाब मिलता—चलो, आते हैं; दस्तरख़्वान बिछाओ। यहाँ तक कि बावरची विवश होकर कमरे ही में खाना रख जाता था, और दोनो मित्र दोनो काम साथ-साथ करते थे। मिर्ज़ा सज्जादअली के घर में कोई बड़ा-बूढ़ा न था, इसलिये उन्हीं के दीवानख़ाने में बाज़ियाँ होती थीं। मगर यह बात न थी कि मिर्ज़ा के घर के और लोग उनके इस व्यवहार से ख़ुश हों। घरवालों का तो कहना ही क्या, मुहल्लेवाले, घर के नौकर-चाकर तक नित्य द्वेष-पूर्ण टिप्पणियाँ किया करते थे—बड़ा मनहूस खेल है। घर को तबाह कर देता है। ख़ुदा न करे, किसी को इसकी चाट पड़े। आदमी दीन, दुनिया, किसी के काम का नहीं रहता, न घर का, न घाट का। बुरा रोग है। यहाँ तक कि मिर्ज़ा की बेगम साहबा को इससे इतना द्वेष था कि अवसर खोज-खोजकर पति को लताड़ती थीं। पर उन्हें इसका अवसर मुश्किल से मिलता था। वह सोती ही रहती थीं, तब तक उधर बाज़ी बिछ जाती थी। और, रात को जब सो जाती थीं, तब कहीं मिर्ज़ाजी भीतर आते थे। हाँ, नौकरों पर वह अपना ग़ुस्सा उतारती रहती थीं—क्या पान माँगे हैं? कह दो, आकर ले जायँ। खाने की भी फ़ुरसत नहीं है? ले जाकर खाना सिर पर पटक दो, खायँ, चाहे कुत्ते को खिलावें। पर दूबदू वह भी कुछ न कह सकती थीं। उन्हें अपने पति से उतना मलाल न था, जितना मीर साहब से। उन्होंने उनका नाम मीर बिगाड़ू रख छोड़ा था। शायद मिर्ज़ाजी अपनी सफ़ाई देने के लिये सारा इल्ज़ाम मीर साहब ही के सिर थोप देते थे।

एक दिन बेगम साहबा के सिर में दर्द होने लगा। उन्होंने लौंडी से कहा—"जाकर मिर्ज़ा साहब को बुला ला। किसी हकीम के यहाँ से दवा लावें। दौड़, जल्दी कर।" लौंडी गई, तो मिर्ज़ाजी ने कहा—"चल, अभी आते हैं।" बेगम साहबा का मिज़ाज गरम था। इतनी ताब कहाँ कि उनके सिर में दर्द हो और पति शतरंज खेलता रहे। चेहरा सुर्ख़ हो गया। लौंडी से कहा—"जाकर कह, अभी चलिए, नहीं तो वह आप ही हकीम के यहाँ चली जायँगी।" मिर्ज़ाजी बड़ी दिलचस्प बाज़ी खेल रहे थे; दो ही किश्तों में मीर साहब को मात हुई जाती थी। झुँझलाकर बोले—"क्या ऐसा दम लबों पर है? ज़रा सब्र नहीं होता?"

मीर—"अरे तो जाकर सुन ही आइए न। औरतें नाज़ुक-मिज़ाज होती ही हैं।"

मिर्ज़ा—"जी हाँ, चला क्यों न जाऊँ! दो किश्तों में आपको मात होती है।"

मीर—"जनाब, इस भरोसे न रहिएगा। वह चाल सोची है कि आपके मुहरे धरे रहें, और मात हो जाय। पर जाइए, सुन आइए। क्यों ख़्वाहमख़्वाह उनका दिल दुखाइएगा?"

मिर्ज़ा—"इसी बात पर मात ही करके जाऊँगा।"

मीर—"मैं खेलूँगा ही नहीं। आप जाकर सुन आइए।"

मिर्ज़ा—"अरे यार, जाना पड़ेगा हकीम के यहाँ। सिर-दर्द ख़ाक नहीं है; मुझे परेशान करने का बहाना है।"

मीर—"कुछ ही हो, उनकी ख़ातिर तो करनी ही पड़ेगी।"

मिर्ज़ा—"अच्छा, एक चाल और चल लूँ।"

मीर—"हरगिज़ नहीं, जब तक आप सुन न आवेंगे, मैं मुहरे में हाथ ही न लगाऊँगा।"

मिर्ज़ा साहब मजबूर होकर अंदर गए, तो बेगम साहबा ने त्योरियाँ

बदलकर, लेकिन किराहते हुए कहा—"तुम्हें निगोड़ी शतरंज इतनी प्यारी है ! चाहे कोई मर ही जाय, पर उठने का नाम नहीं लेते ! नौज कोई तुम-जैसा आदमी हो।"

मिर्ज़ा—"क्या कहूँ, मीर साहब मानते ही न थे । बड़ी मुश्किल से पीछा छुड़ाकर आया हूँ।"

बेगम—"क्या जैसे वह ख़ुद निखट्टू हैं, वैसे ही सबको समझते हैं ? उनके भी तो बाल-बच्चे हैं ; या सबका सफ़ाया कर डाला ?"

मिर्ज़ा—"बड़ा लती आदमी है। जब आ जाता है, तब मजबूर होकर मुझे भी खेलना ही पड़ता है।"

बेगम—"दुतकार क्यों नहीं देते ?"

मिर्ज़ा—"बराबर के आदमी हैं, उम्र में, दर्जे में, मुझसे दो अंगुल ऊँचे । मुलाहिज़ा करना ही पड़ता है।"

बेगम—"तो मैं ही दुतकारे देती हूँ । नाराज़ हो जायँगे, हो जायँ। कौन किसी की रोटियाँ चला देता है। रानी रूठेंगी, अपना सुहाग लेंगी। हिरिया, जा, बाहर से शतरंज उठा ला। मीर साहब से कहना, मियाँ अब न खेलेंगे, आप तशरीफ़ ले जाइए।"

मिर्ज़ा—"हाँ-हाँ, कहीं ऐसा ग़ज़ब भी न करना ! ज़लील कराना चाहती हो क्या ! ठहर हिरिया, कहाँ जाती है।"

बेगम—"जाने क्यों नहीं देते । मेरा ही ख़ून पिए, जो उसे रोके। अच्छा, उसे रोको, मुझे रोको, तो जानूँ।"

यह कहकर बेगम साहबा झल्लाई हुई दीवानख़ाने की तरफ़ चलीं। मिर्ज़ा बेचारे का रंग उड़ गया। बीवी की मिन्नतें करने लगे—"ख़ुदा के लिये, तुम्हें हज़रत हुसैन की कसम । मेरी ही मैयत देखे, जो उधर जाय।" लेकिन बेगम ने एक न मानी । दीवानख़ाने के द्वार तक गईं ; पर एकाएक पर-पुरुष के सामने जाते हुए पाँव बँध-से गए । भीतर झाँका। संयोग से कमरा ख़ाली था। मीर साहब ने दो-एक मुहरे इधर-उधर कर

दिए थे, और अपनी सफ़ाई जताने के लिये बाहर टहल रहे थे। फिर क्या था, बेगम ने अंदर पहुँचकर बाज़ी उलट दी; मुहरे कुछ तख़्त के नीचे फेक दिए, कुछ बाहर; और किवाड़ अंदर से बंद करके कुंडी लगा दी। मीर साहब दरवाज़े पर तो थे ही, मुहरे बाहर फेके जाते देखे, चूड़ियों की झनक भी कान में पड़ी। फिर दरवाज़ा बंद हुआ, तो समझ गए, बेगम साहबा बिगड़ गईं। चुपके से घर की राह ली।

मिर्ज़ा ने कहा—"तुमने ग़ज़ब किया!"

बेगम—"अब मीर साहब इधर आए, तो खड़े-खड़े निकलवा दूँगी। इतनी लौ ख़ुदा से लगाते, तो क्या ग़रीब हो जाते! आप तो शतरंज खेलें, और मैं यहाँ चूल्हे-चक्की की फ़िक्र में सिर खपाऊँ! ले जाते हो हकीम साहब के यहाँ कि अब भी ताम्मुल है?"

मिर्ज़ा घर से निकले, तो हकीम के घर जाने के बदले मीर साहब के घर पहुँचे, और सारा वृत्तांत कहा। मीर साहब बोले—"मैंने तो जब मुहरे बाहर आते देखे, तभी ताड़ गया। फ़ौरन् भागा। बड़ी ग़ुस्सेवर मालूम होती हैं। मगर आपने उन्हें यों सिर चढ़ा रक्खा है, यह मुनासिब नहीं। उन्हें इससे क्या मतलब कि आप बाहर क्या करते हैं। घर का इंतिज़ाम करना उनका काम है; दूसरी बातों से उन्हें क्या सरोकार?"

मिर्ज़ा—"ख़ैर, यह तो बताइए, अब कहाँ जमाव होगा?"

मीर—"इसका क्या ग़म। इतना बड़ा घर पड़ा हुआ है। बस, यहीं जमे।"

मिर्ज़ा—"लेकिन बेगम साहबा को कैसे मनाऊँगा? जब घर पर बैठा रहना था, तब तो वह इतना बिगड़ती थीं, यहाँ बैठक होगी, तो शायद ज़िंदा न छोड़ेंगी।"

मीर—"अजी, बकने भी दीजिए; दो-चार रोज़ में आप ही ठीक हो जायँगी। हाँ, आप इतना कीजिए कि आज से ज़रा तन जाइए।"

(२)

मीर साहब की बेगम किसी अज्ञात कारण से उनका घर से दूर रहना ही उपयुक्त समझती थीं। इसीलिये वह उनके शतरंज-प्रेम की कभी आलोचना न करतीं; बल्कि कभी-कभी मीर साहब को देर हो जाती, तो याद दिला देती थीं। इन कारणों से मीर साहब को भ्रम हो गया था कि मेरी स्त्री अत्यंत विनयशील और गंभीर है; लेकिन जब दीवानख़ाने में बिसात बिछने लगी, और मीर साहब दिन-भर घर में रहने लगे, तो उन्हें बड़ा कष्ट होने लगा। उनकी स्वाधीनता में बाधा पड़ गई। दिन-भर दरवाज़े पर झाँकने को तरस जातीं।

उधर नौकरों में भी कानाफूसी होने लगी। अब तक दिन-भर पड़े-पड़े मक्खियाँ मारा करते थे। घर में चाहे कोई आवे, चाहे कोई जाय, उनसे कुछ मतलब न था। आठो पहर की धौंस हो गई। कभी पान लाने का हुक्म होता, कभी मिठाई का। और, हुक़्क़ा तो किसी प्रेमी के हृदय की भाँति नित्य जलता ही रहता था। वे बेगम साहबा से जा-जाकर कहते—"हुज़ूर, मियाँ की शतरंज तो हमारे जी का जंजाल हो गई! दिन-भर दौड़ते-दौड़ते पैरों में छाले पड़ गए। यह भी कोई खेल है कि सुबह को बैठे, तो शाम ही कर दी! घड़ी-आध-घड़ी दिल-बहलाव के लिये खेल लेना बहुत है। ख़ैर, हमें तो कोई शिकायत नहीं; हुज़ूर के गुलाम हैं, जो हुक्म होगा, बजा ही लावेंगे; मगर यह खेल मनहूस है। इसका खेलनेवाला कभी पनपता नहीं, घर पर कोई-न-कोई आफ़त ज़रूर आती है। यहाँ तक कि एक के पीछे महल्ले-के-महल्ले तबाह होते देखे गए हैं। सारे महल्ले में यही चर्चा होती रहती है। हुज़ूर का नमक खाते हैं, अपने आक़ा की बुराई सुन-सुनकर रंज होता है। मगर क्या करें।" इस पर बेगम साहबा कहतीं—"मैं तो ख़ुद इसे पसंद नहीं करती। पर वह किसी की सुनते ही नहीं, तो क्या किया जाय।"

महल्ले में भी जो दो-चार पुराने ज़माने के लोग थे, वे आपस में

भाँति-भाँति के अमंगल की कल्पनाएँ करने लगे—"अब ख़ैरियत नहीं है। जब हमारे रईसों का यह हाल है, तो मुल्क का ख़ुदा ही हाफ़िज़। यह बादशाहत शतरंज के हाथों तबाह होगी। आसार बुरे हैं।"

राज्य में हाहाकार मचा हुआ था। प्रजा दिन-दहाड़े लूटी जाती थी। कोई फ़रियाद सुननेवाला न था। देहातों की सारी दौलत लखनऊ में खिंची चली आती थी, और वह वेश्याओं में, भाँड़ों में और विलासिता के अन्य अंगों की पूर्ति में उड़ जाती थी। अँगरेज़ कंपनी का ऋण दिन-दिन बढ़ता जाता था। कमली दिन-दिन भीगकर भारी होती जाती थी। देश में सुव्यवस्था न होने के कारण वार्षिक कर भी न वसूल होता था। रेज़ीडेंट बार-बार चेतावनी देता था; पर यहाँ तो लोग विलासिता के नशे में चूर थे; किसी के कानों पर जूँ न रेंगती थी।

ख़ैर, मीर साहब के दीवानखाने में शतरंज होते कई महीने गुज़र गए। नए-नए नक़्शे हल किए जाते; नए-नए क़िले बनाए जाते; नित नई व्यूह-रचना होती; कभी-कभी खेलते-खेलते झौड़ हो जाती; तू-तू, मैं-मैं तक की नौबत आ जाती। पर शीघ्र ही दोनो मित्रों में मेल हो जाता। कभी-कभी ऐसा भी होता कि बाज़ी उठा दी जाती; मिर्ज़ाजी रूठकर अपने घर चले आते; मीर साहब अपने घर में जा बैठते। पर रात-भर की निद्रा के साथ सारा मनोमालिन्य शांत हो जाता था। प्रातःकाल दोनो मित्र दीवानख़ाने में आ पहुँचते थे।

एक दिन दोनो मित्र बैठे शतरंज की दलदल में ग़ोते खा रहे थे कि इतने में घोड़े पर सवार एक बादशाही फ़ौज का अफ़सर मीर साहब का नाम पूछता हुआ आ पहुँचा। मीर साहब के होश उड़ गए! यह क्या बला सिर पर आई! यह तलबी किसलिये हुई! अब ख़ैरियत नहीं नज़र आती! घर के दरवाज़े बंद कर लिए। नौकरों से बोले—"कह दो, घर में नहीं हैं।"

सवार—"घर में नहीं, तो कहाँ हैं?"

नौकर—"यह मैं नहीं जानता। क्या काम है?"

सवार—"काम तुझे क्या बतलाऊँ? हुज़ूर में तलबी है, शायद फ़ौज के लिये कुछ सिपाही माँगे गए हैं। जागीरदार हैं कि दिल्लगी? मोरचे पर जाना पड़ेगा, तो आटे-दाल का भाव मालूम हो जायगा!"

नौकर—"अच्छा, तो जाइए, कह दिया जायगा।"

सवार—"कहने की बात नहीं है। मैं कल ख़ुद आऊँगा। साथ ले जाने का हुक्म हुआ है।"

सवार चला गया। मीर साहब की आत्मा काँप उठी। मिर्ज़ाजी से बोले—"कहिए जनाब, अब क्या होगा?"

मिर्ज़ा—"बड़ी मुसीबत है। कहीं मेरी भी तलबी न हो।"

मीर—"कंबख़्त कल फिर आने को कह गया है!"

मिर्ज़ा—"आफ़त है, और क्या! कहीं मोरचे पर जाना पड़ा, तो बेमौत मरे।"

मीर—"बस यही एक तदबीर है कि घर पर मिलो ही नहीं। कल से गोमती पर कहीं वीराने में नक़्शा जमे। वहाँ किसे ख़बर होगी? हज़्रत आकर आप लौट जायँगे।"

मिर्ज़ा—"वल्लाह, आपको ख़ूब सूझी! इसके सिवा और कोई तदबीर ही नहीं।"

इधर मीर साहब की बेगम उस सवार से कह रही थीं—"तुमने ख़ूब धता बताई।" उसने जवाब दिया—"ऐसे गावदियों को तो चुटकियों पर नचाता हूँ। इनकी सारी अक़्ल और हिम्मत तो शतरंज ने चर ली। अब भूलकर भी घर पर न रहेंगे।"

(३)

दूसरे दिन से दोनो मित्र मुँह-अँधेरे घर से निकल खड़े होते। बग़ल में एक छोटी-सी दरी दबाए, डिब्बे में गिलौरियाँ भरे, गोमती-पार की एक पुरानी वीरान मसजिद में चले जाते, जिसे शायद नवाब आसिफ़उद्दौला

ने बनवाया था। रास्ते में तंबाकू, चिलम और मदरिया ले लेते, और मसजिद में पहुँच, दरी बिछा, हुक्का भरकर शतरंज खेलने बैठ जाते थे। फिर उन्हें दीन-दुनिया की फ़िक्र न रहती थी। 'किश्त', 'शह' आदि दो-एक शब्दों के सिवा उनके मुँह से और कोई वाक्य नहीं निकलता था। कोई योगी भी समाधि में इतना एकाग्र न होता होगा। दोपहर को जब भूक मालूम होती, तो दोनो मित्र किसी नानबाई की दूकान पर जाकर खाना खा आते, और एक चिलम हुक्का पीकर फिर संग्राम-क्षेत्र में डट जाते। कभी-कभी तो उन्हें भोजन का भी खयाल न रहता था।

इधर देश की राजनीतिक दशा भयंकर होती जा रही थी। कंपनी की फ़ौजें लखनऊ की तरफ़ बढ़ी चली आती थीं। शहर में हलचल मची हुई थी। लोग बाल-बच्चों को ले-लेकर देहातों में भाग रहे थे। पर हमारे दोनो खिलाड़ियों को इसकी ज़रा भी फ़िक्र न थी। वे घर से आते, तो गलियों में होकर। डर था कि कहीं किसी बादशाही मुलाज़िम की निगाह न पड़ जाय, जो बेगार में पकड़ जायँ। हज़ारों रुपए सालाना की जागीर मुफ़्त ही में हज़म करना चाहते थे।

एक दिन दोनो मित्र मसजिद के खँडहर में बैठे हुए शतरंज खेल रहे थे। मिर्ज़ा की बाज़ी कुछ कमज़ोर थी। मीर साहब उन्हें किश्त-पर-किश्त दे रहे थे। इतने में कंपनी के सैनिक आते हुए दिखाई दिए। यह गोरों की फ़ौज थी, जो लखनऊ पर अधिकार जमाने के लिये आ रही थी।

मीर साहब बोले—"अँगरेज़ी फ़ौज आ रही है; ख़ुदा ख़ैर करे।"

मिर्ज़ा—"आने दीजिए, किश्त बचाइए। लो यह किश्त।"

मीर—"ज़रा देखना चाहिए—यहीं आड़ में खड़े हो जायँ।"

मिर्ज़ा—"देख लीजिएगा, जल्दी क्या है, फिर किश्त।"

मीर—"तोपख़ाना भी है। कोई पाँच हज़ार आदमी होंगे। कैसे

जवान हैं। लाल बंदरों के-से मुँह हैं। सूरत देखकर ख़ौफ़ मालूम होता है।"

मिर्ज़ा—"जनाब, हीले न कीजिए। ये चकमे किसी और को दीजिएगा—यह किश्त।"

मीर—"आप भी अजीब आदमी हैं। यहाँ तो शहर पर आफ़त आई हुई है, और आपको किश्त की सूझी है! कुछ इसकी भी ख़बर है कि शहर घिर गया, तो घर कैसे चलेंगे?"

मिर्ज़ा—"जब घर चलने का वक़्त आवेगा, तो देखी जायगी—यह किश्त। बस, अब की शह में मात है।"

फ़ौज निकल गई। दस बजे का समय था। फिर बाज़ी बिछ गई। मिर्ज़ा बोले—"आज खाने की कैसी ठहरेगी?"

मीर—"अजी, आज तो रोज़ा है। क्या आपको ज़्यादा भूक मालूम होती है?"

मिर्ज़ा—"जी नहीं। शहर में न-जाने क्या हो रहा है।"

मीर—"शहर में कुछ न हो रहा होगा। लोग खाना खा-खाकर आराम से सो रहे होंगे। हुज़ूर नवाब साहब भी ऐशगाह में होंगे।"

दोनो सज्जन फिर जो खेलने बैठे, तो तीन बज गए। अब की मिर्ज़ाजी की बाज़ी कमज़ोर थी। चार का गजर बज ही रहा था कि फ़ौज की वापसी की आहट मिली। नवाब वाजिदअली शाह पकड़ लिए गए थे, और सेना उन्हें किसी अज्ञात स्थान को लिए जा रही थी। शहर में न कोई हलचल थी, न मार-काट। एक बूँद भी ख़ून नहीं गिरा था। आज तक किसी स्वाधीन देश के राजा की पराजय इतनी शांति से, इस तरह ख़ून बहे बिना, न हुई होगी। यह वह अहिंसा न थी, जिस पर देवगण प्रसन्न होते हैं। यह वह कायरपन था, जिस पर बड़े-से-बड़े कायर भी आँसू बहाते हैं। अवध के विशाल देश का नवाब बंदी बना चला जाता

था, और लखनऊ ऐश की नींद में मस्त था। यह राजनीतिक अधःपतन की चरम सीमा थी।

मिर्ज़ा ने कहा—"हुज़ूर नवाब साहब को जालिमों ने कैद कर लिया है।"

मीर—"होगा, यह लीजिए शाह।"

मिर्ज़ा—"जनाब, ज़रा ठहरिए। इस वक़्त इधर तबीयत नहीं लगती। बेचारे नवाब साहब इस वक़्त ख़ून के आँसू रो रहे होंगे।"

मीर—"रोया ही चाहें। यह ऐश वहाँ कहाँ नसीब होगी—यह किश्त!"

मिर्ज़ा—"किसी के दिन बराबर नहीं जाते। कितनी दर्दनाक हालत है।"

मीर—"हाँ, सो तो है ही—यह लो, फिर किश्त। बस, अबकी किश्त में मात है, बच नहीं सकते।"

मिर्ज़ा—"ख़ुदा की क़सम, आप बड़े बेदर्द हैं। इतना बड़ा हादसा देखकर भी आपको दुख नहीं होता। हाय, ग़रीब वाजिदअली शाह!"

मीर—"पहले अपने बादशाह को तो बचाइए, फिर नवाब साहब का मातम कीजिएगा। यह किश्त और मात। लाना हाथ!"

बादशाह को लिए हुए सेना सामने से निकल गई। उनके जाते ही मिर्ज़ा ने फिर बाज़ी बिछा दी। हार की चोट बुरी है। मीर ने कहा—"आइए, नवाब साहब के मातम में एक मरसिया कह डालें!" लेकिन मिर्ज़ाजी की राजभक्ति अपनी हार के साथ लुप्त हो चुकी थी, वह हार का बदला चुकाने के लिये अधीर हो रहे थे।

(४)

शाम हो गई। खँडहर में चमगादड़ों ने चीखना शुरू किया। अबाबीलें आ-आकर अपने-अपने घोसलों में चिमटीं। पर दोनों खिलाड़ी डटे हुए थे, मानो दो ख़ून के प्यासे सूरमा आपस में लड़ रहे हों। मिर्ज़ाजी तीन बाज़ियाँ लगातार हार चुके थे; इस चौथी बाज़ी का रंग भी अच्छा न था। वह बार-बार जीतने का दृढ़ निश्चय करके सँभलकर

खेलते थे; लेकिन एक-न-एक चाल ऐसी बेढब आ पड़ती थी, जिससे बाज़ी ख़राब हो जाती थी। हर बार हार के साथ प्रतिकार की भावना और भी उग्र होती जाती थी। उधर मीर साहब मारे उमंग के ग़ज़लें गाते थे, चुटकियाँ लेते थे, मानो कोई गुप्त धन पा गए हों। मिर्ज़ाजी सुन-सुनकर झुँझलाते और हार की झेंप मिटाने के लिये उनकी दाद देते थे। पर ज्यों-ज्यों बाज़ी कमज़ोर पड़ती थी, धैर्य हाथ से निकलता जाता था। यहाँ तक कि वह बात-बात पर झुँझलाने लगे—"जनाब, आप चाल न बदला कीजिए। यह क्या कि एक चाल चले, और फिर उसे बदल दिया। जो कुछ चलना हो, एक बार चल लीजिए। यह आप मुहरे पर ही हाथ क्यों रक्खे रहते हैं? मुहरे छोड़ दीजिए। जब तक आपको चाल न सूझे, मुहरा छुइए ही नहीं। आप एक-एक चाल आध-आध घंटे में चलते हैं। इसी की सनद नहीं, जिस एक चाल चलने में पाँच मिनट से ज़्यादा लगे, उसे मात समझी जाय। फिर आपने चाल बदली; चुपके से मुहरा वहीं रख दीजिए!"

मीर साहब का फ़रज़ी पिटता था। बोले—"मैंने चाल चली ही कब थी?"

मिर्ज़ा—"आप चाल चल चुके हैं। मुहरा वहीं रख दीजिए—उसी घर में।"

मीर—"उस घर में क्यों रक्खूँ? हाथ से मुहरा छोड़ा कब था।"

मिर्ज़ा—"मुहरा आप क़यामत तक न छोड़ें, तो क्या चाल ही न होगी? फ़रज़ी पिटते देखा, तो धाँधली करने लगे!"

मीर—धाँधली आप करते हैं। हार-जीत तक़दीर से होती है; धाँधली करने से कोई नहीं जीतता।"

मिर्ज़ा—"तो इस बाज़ी में आपको मात हो गई?"

मीर—"मुझे क्यों मात होने लगी।"

मिर्ज़ा—"तो आप मुहरा उसी घर में रख दीजिए, जहाँ पहले रक्खा था।"

मीर—"वहाँ क्यों रक्खूँ? नहीं रखता।"

मिर्ज़ा—"क्यों न रखिएगा? आपको रखना ही होगा।"

तकरार बढ़ने लगी। दोनो अपनी-अपनी टेक पर अड़े थे। न यह दबता था, न वह। अप्रासंगिक बातें होने लगीं। मिर्ज़ा बोले—"किसी ने खानदान में शतरंज खेली होती, तब तो इसके क़ायदे जानते। वे तो हमेशा घास छीला किए, आप शतरंज क्या खेलिएगा। रियासत और ही चीज़ है। जागीर मिल जाने ही से कोई रईस नहीं हो जाता।"

मीर—"क्या! घास आपके अब्बाजान छीलते होंगे! यहाँ तो पीढ़ियों से शतरंज खेलते चले आते हैं।"

मिर्ज़ा—"अजी, जाइए भी, ग़ाज़ि‍उद्दीन हैदर के यहाँ बावर्ची का करते-करते उम्र गुज़र गई, आज रईस बनने चले हैं। रईस बनना कुछ दिल्लगी नहीं।"

मीर—"क्यों अपने बुज़ुर्गों के मुँह में कालिख लगाते हो—वे ही काम बावर्ची का काम करते होंगे। यहाँ तो हमेशा बादशाह के दस्तरख़्वान पर खाना खाते चले आए हैं।"

मिर्ज़ा—"अरे चल चरकटे, बहुत बढ़-बढ़कर बातें न कर।"

मीर—"ज़बान सँभालिए, वरना बुरा होगा। मैं ऐसी बातें सुनने का आदी नहीं हूँ। यहाँ तो किसी ने आँखें दिखाईं कि उसकी आँखें निकालीं। है हौसला?"

मिर्ज़ा—"आप मेरा हौसला देखना चाहते हैं, तो फिर आइए; आज दो-दो हाथ हो जायँ—इधर या उधर।"

मीर—"तो यहाँ तुमसे दबनेवाला कौन है?"

दोनो दोस्तों ने कमर से तलवारें निकाल लीं। नवाबी ज़माना था;

सभी तलवार, पेशक़ब्ज़, कटार वग़ैरा बाँधते थे। दोनो विलासी थे; पर कायर न थे। उनमें राजनीतिक भावों का अधःपतन हो गया था—बादशाह के लिये, बादशाहत के लिये क्यों मरें? पर व्यक्तिगत वीरता का अभाव न था। दोनो ने पैंतरे बदले, तलवारें चमकीं, छपाछप की आवाज़ें आईं। दोनो ज़ख़्म खाकर गिरे, और दोनो ने वहीं तड़प-तड़पकर जानें दे दीं। अपने बादशाह के लिये जिनकी आँखों से एक बूँद आँसू न निकला, उन्हीं ने शतरंज के वज़ीर की रक्षा में प्राण दे दिए।

अँधेरा हो चला था। बाज़ी बिछी हुई थी। दोनो बादशाह अपने-अपने सिंहासनों पर बैठे मानो इन दोनो वीरों की मृत्यु पर रो रहे थे।

चारो तरफ़ सन्नाटा छाया हुआ था। खँडहर की टूटी हुई मेहराबें, गिरी हुई दीवारें और धूल-धसरित मीनारें इन लाशों को देखती और सिर धुनती थीं।

पंच परमेश्वर

(१)

जुम्मन शेख़ और अलगू चौधरी में गाढ़ी मित्रता थी। साझे में खेती होती थी। कुछ लेन-देन में भी साझा था। एक को दूसरे पर अटल विश्वास था। जुम्मन जब हज करने गए थे, तब अपना घर अलगू को सौंप गए थे; और अलगू जब कभी बाहर जाते, तो जुम्मन पर अपना घर छोड़ देते थे। उनमें न खान-पान का व्यवहार था, न धर्म का नाता; केवल विचार मिलते थे। मित्रता का मूल-मंत्र भी यही है।

इस मित्रता का जन्म उसी समय हुआ, जब दोनों मित्र बालक ही थे, और जुम्मन के पूज्य पिता जुमराती उन्हें शिक्षा प्रदान करते थे। अलगू ने गुरुजी की बहुत सेवा की; ख़ूब रकाबियाँ माँजीं, ख़ूब प्याले धोए। उनका हुक्का एक क्षण के लिये भी विश्राम न लेने पाता था; क्योंकि प्रत्येक चिलम अलगू को आध घंटे तक किताबों से अलग कर देती थी। अलगू के पिता पुराने विचारों के मनुष्य थे। उन्हें शिक्षा की अपेक्षा गुरु की सेवा-शुश्रूषा पर अधिक विश्वास था। वह कहते थे कि विद्या पढ़ने से नहीं आती; जो कुछ होता है, गुरु के आशीर्वाद से। बस, गुरुजी की कृपा-दृष्टि चाहिए। अतएव यदि अलगू पर जुमराती शेख़ के आशीर्वाद अथवा सत्संग का कुछ फल न हुआ, तो वह यह मानकर संतोष कर लेगा कि विद्योपार्जन में मैंने यथाशक्ति कोई बात उठा नहीं रक्खी; विद्या उसके भाग ही में न थी, तो कैसे आती?

मगर जुमराती शेख़ स्वयं आशीर्वाद के कायल न थे। उन्हें अपने सोंटे पर अधिक भरोसा था। और, उसी सोंटे के प्रताप से आज आस-पास के गाँवों में जुम्मन की पूजा होती थी। उनके लिखे हुए रिहननामे

या बैनामे पर कचहरी का मुहर्रिर भी क़लम न उठा सकता था। हल्के का डाकिया, कांस्टेबिल और तहसील का चपरासी—सब उनकी कृपा की आकांक्षा रखते थे। अतएव अलगू का मान उनके धन के कारण था, तो जुम्मन शेख़ अपनी अनमोल विद्या से ही सबके आदर-पात्र बने थे।

(२)

जुम्मन शेख़ की एक बूढ़ी ख़ाला (मौसी) थी। उसके पास कुछ थोड़ी-सी मिलकियत थी। परंतु उसके निकट संबंधियों में कोई न था। जुम्मन ने लंबे-चौड़े वादे करके वह मिलकियत अपने नाम लिखवा ली थी। जब तक दानपत्र की रजिस्ट्री न हुई थी, तब तक ख़ालाजान का ख़ूब आदर-सत्कार किया गया। उन्हें ख़ूब स्वादिष्ठ पदार्थ खिलाए गए। हलवे-पुलाव की वर्षा-सी की गई। पर रजिस्ट्री की मुहर ने इन ख़ातिर-दारियों पर भी मानो मुहर लगा दी। जुम्मन की पत्नी करीमन रोटियों के साथ कड़वी बातों के कुछ तेज़-तीखे सालन भी देने लगी। जुम्मन शेख़ भी निठुर हो गए। अब बेचारी ख़ालाजान को प्रायः नित्य ही ऐसी बातें सुननी पड़ती थीं।

बुढ़िया न जाने कब तक जिएगी। दो-तीन बीघे ऊसर क्या दे दिया, मानो मोल ले लिया है! बघारी दाल के बिना रोटियाँ नहीं उतरतीं! जितना रुपया इसके पेट में झोंक चुके, उतने से तो अब तक एक गांव मोल ले लेते।

कुछ दिन ख़ालाजान ने सुना और सहा; पर जब न सहा गया, तब जुम्मन से शिकायत की। जुम्मन ने स्थानीय कर्मचारी—गृह-स्वामिनी—के प्रबंध में दख़ल देना उचित न समझा। कुछ दिन तक और यों ही रो-धोकर काम चलता रहा। अंत को एक दिन ख़ाला ने जुम्मन से कहा—"बेटा! तुम्हारे साथ मेरा निबाह न होगा। तुम मुझे रुपए दे दिया करो, मैं अपना अलग पका-खा लूँगी।"

जुम्मन ने धृष्टता के साथ उत्तर दिया—"रुपए क्या यहाँ फलते हैं?" ख़ाला ने नम्रता से कहा—"मुझे कुछ रूखा-सूखा चाहिए भी कि नहीं?" जुम्मन ने गंभीर स्वर से जवाब दिया—"तो कोई यह थोड़े ही समझा था कि तुम मौत से लड़कर आई हो?"

ख़ाला बिगड़ गईं। उन्होंने पंचायत करने की धमकी दी। जुम्मन हँसे, जिस तरह कोई शिकारी हिरन को जाल की तरफ़ जाते देखकर मन-ही-मन हँसता है। वह बोले—"हाँ, ज़रूर पंचायत करो। फ़ैसला हो जाय। मुझे भी यह रात-दिन का खटखट पसंद नहीं।" पंचायत में किसकी जीत होगी, इस विषय में जुम्मन को कुछ भी संदेह न था। आस-पास के गाँवों में ऐसा कौन था, जो उनके अनुग्रहों का ऋणी न हो? ऐसा कौन था, जो उन्हें शत्रु बनाने का साहस कर सके? किसमें इतना बल था, जो उनका सामना कर सके? आसमान के फ़रिश्ते तो पंचायत करने आवेंगे ही नहीं।

(२)

इसके बाद कई दिन तक बूढ़ी ख़ाला हाथ में एक लकड़ी लिए आस-पास के गाँवों में दौड़ती रही। कमर झुककर कमान हो गई थी। एक-एक पग चलना दूभर था। मगर बात आ पड़ी थी। उसका निर्णय करना ज़रूरी था।

बिरला ही कोई भला आदमी होगा, जिसके सामने बुढ़िया ने दुःख के आँसू न बहाए हों। किसी ने तो यों ही ऊपरी मन से हूँ-हाँ करके टाल दिया, और किसी ने इस अन्याय पर ज़माने को गालियाँ दीं। किसी ने कहा—"क़ब्र में पाँव लटके हुए हैं, आज मरे, कल दूसरा दिन, पर हवस नहीं मानती। अब तुम्हें क्या चाहिए? रोटी खाओ और अल्लाह का नाम लो। तुम्हें अब खेती-बारी से क्या काम? कुछ ऐसे सज्जन भी, जिन्हें हास्य के रसास्वादन का अच्छा अवसर मिला। झुकी हुई कमर, पोपला मुँह, सन के-से बाल। जब इतनी सामग्रियाँ एकत्र हों, तब हँसी

क्यों न आवे ? ऐसे न्याय-प्रिय, दयालु, दीनवत्सल पुरुष बहुत कम थे, जिन्होंने उस अबला के दुखड़े को ग़ौर से सुना हो और उसे सांत्वना दी हो। चारो ओर से घूम-घामकर बेचारी अलगू चौधरी के पास आई। लाठी पटक दी, और दम लेकर बोली—"बेटा, तुम भी दम-भर के लिये मेरी पंचायत में चले आना।"

अलगू—"मुझे बुलाकर क्या करोगी ? कई गाँव के आदमी तो आवेंगे ही।"

ख़ाला—"अपनी विपद तो सबके आगे रो आई। अब आने-न-आने का अख़्तियार उनको है।"

अलगू—"यों आने को मैं आ जाऊँगा, मगर पंचायत में मुँह न खोलूँगा।"

ख़ाला—"क्यों बेटा ?"

अलगू—"अब इसका क्या जवाब दूँ ? अपनी ख़ुशी ! जुम्मन मेरा पुराना मित्र है। उससे बिगाड़ नहीं कर सकता।"

ख़ाला—"बेटा, क्या बिगाड़ के डर से ईमान की बात न कहोगे ?"

हमारे सोए हुए धर्म-ज्ञान की सारी संपत्ति लुट जाय, तो उसे ख़बर नहीं होती। परंतु ललकार सुनकर वह सचेत हो जाता है। फिर उसे कोई जीत नहीं सकता। अलगू इस सवाल का कोई उत्तर न दे सका। पर उसके हृदय में ये शब्द गूँज रहे थे—

"क्या बिगाड़ के डर से ईमान की बात न कहोगे ?"

(४)

संध्या-समय एक पेड़ के नीचे पंचायत बैठी। शेख़ जुम्मन ने पहले से ही फ़र्श बिछा रक्खा था। उन्होंने पान, इलायची, हुक़्के-तंबाकू आदि का प्रबंध भी किया था। हाँ, वह स्वयं अलबत्ता अलगू चौधरी के साथ ज़रा दूर बैठे हुए थे। जब कोई पंचायत में आ जाता था, तब दबे हुए सलाम से उसका स्वागत करते थे। जब सूर्य अस्त हो

गया, और चिड़ियों की कलरव-युक्त पंचायत पेड़ों पर बैठी, तब यहाँ भी पंचायत शुरू हुई। फ़र्श की एक-एक अंगुल ज़मीन भर गई। पर अधिकांश दर्शक ही थे। निमंत्रित महाशयों में से केवल वे ही लोग पधारे थे, जिन्हें जुम्मन से अपनी कुछ कसर निकालनी थी। एक कोने में आग सुलग रही थी। नाई ताबड़तोड़ चिलम भर रहा था। यह निर्णय करना असंभव था कि सुलगते हुए उपलों से अधिक धुआँ निकलता था या चिलम के दमों से। लड़के इधर-उधर दौड़ रहे थे। कोई आपस में गाली-गलौज करते और कोई रोते थे। चारो तरफ़ कोलाहल मच रहा था। गाँव के कुत्ते इस जमाव को भोज समझकर झुंड-के-झुंड जमा हो गए थे।

पंच लोग बैठ गए, तो बूढ़ी ख़ाला ने उनसे बिनती की—

"पंचो, आज तीन साल हुए, मैंने अपनी सारी जायदाद अपने भानजे जुम्मन के नाम लिख दी थी। इसे आप लोग जानते ही होंगे। जुम्मन ने मुझे ताहयात रोटी-कपड़ा देना कबूल किया था। साल-भर तो मैंने इसके साथ रो-धोकर काटा ; पर अब रात-दिन का रोना नहीं सहा जाता। मुझे न पेट की रोटी मिलती है, और न तन का कपड़ा। बेकस बेवा हूँ। कचहरी-दरबार कर नहीं सकती। तुम्हारे सिवा और किसे अपना दुख सुनाऊँ! तुम लोग जो राह निकाल दो, उसी राह पर चलूँ। अगर मुझमें कोई ऐब देखो, मेरे मुँह पर थप्पड़ मारो। जुम्मन में बुराई देखो, तो उसे समझाओ—क्यों एक बेकस की आह लेता है? मैं पंचों का हुक्म सिर-माथे पर चढ़ाऊँगी।"

रामधन मिश्र, जिनके कई असामियों को जुम्मन ने अपने गाँव में बसा लिया था, बोले—"जुम्मन मियाँ, किसे पंच बदते हो? अभी से इसका निपटारा कर लो। फिर जो कुछ पंच कहेंगे, वही मानना पड़ेगा।"

जुम्मन को इस समय सदस्यों में विशेषकर वे ही लोग देख पड़े, जिनसे किसी-न-किसी कारण उनका वैमनस्य था। जुम्मन बोले—"पंच

का हुक्म अल्लाह का हुक्म है। ख़ालाजान जिसे चाहें, बदें, मुझे कोई उज़्र नहीं।"

ख़ाला ने चिल्लाकर कहा—"अरे अल्लाह के बंदे! पंचों का नाम क्यों नहीं बता देता? कुछ मुझे भी तो मालूम हो!"

जुम्मन ने क्रोध से कहा—"अब इस वक़्त मेरा मुँह न खुलवाओ। तुम्हारी बन पड़ी है, जिसे चाहो, पंच बदो।"

ख़ालाजान जुम्मन के आक्षेप को समझ गईं। वह बोलीं—"बेटा, ख़ुदा से डरो। पंच न किसी के दोस्त होते हैं, न किसी के दुश्मन। कैसी बात कहते हो? और, तुम्हारा किसी पर विश्वास न हो, तो जाने दो; अलगू चौधरी को तो मानते हो? लो, मैं उन्हीं को सरपंच बदती हूँ।"

जुम्मन शेख़ आनंद से फूल उठे। परंतु भावों को छिपाकर बोले—"अलगू चौधरी ही सही, मेरे लिये जैसे रामधन मिसिर वैसे अलगू।"

अलगू इस झमेले में फँसना नहीं चाहते थे। वह कन्नी काटने लगे। बोले—"ख़ाला, तुम जानती हो कि मेरी जुम्मन से गाढ़ी दोस्ती है।"

ख़ाला ने गंभीर स्वर से कहा—"बेटा, दोस्ती के लिये कोई अपना ईमान नहीं बेचता। पंच के दिल में ख़ुदा बसता है। पंचों के मुँह से जो बात निकलती है, वह ख़ुदा की तरफ़ से निकलती है।"

अलगू चौधरी सरपंच हुए। रामधन मिश्र और जुम्मन के दूसरे विरोधियों ने बुढ़िया को मन में बहुत कोसा।

अलगू चौधरी बोले—"शेख़ जुम्मन! हम और तुम पुराने दोस्त हैं। जब काम पड़ा, तुमने हमारी मदद की है, और हम भी, जो कुछ बन पड़ा, तुम्हारी सेवा करते रहे हैं। मगर इस समय तुम और बूढ़ी ख़ाला, दोनों हमारी निगाह में बराबर हो। तुम्हें पंचों से जो कुछ अर्ज़ करनी हो, करो।"

जुम्मन को पूरा विश्वास था कि अब बाज़ी मेरी है। अलगू यह सब

दिखावे की बातें कर रहा है। अतएव शांत-चित्त होकर बोले—"पंचो ! तीन साल हुए, खालाजान ने अपनी जायदाद मेरे नाम हिबा कर दी थी। मैंने उन्हें ताहयात खाना-कपड़ा देना कबूल किया था। खुदा गवाह है, आज तक मैंने खालाजान को कोई तकलीफ़ नहीं दी। मैं उन्हें अपनी मा के समान समझता हूँ। उनकी खिदमत करना मेरा फ़र्ज़ है। मगर औरतों में ज़रा अनबन रहती है। इसमें मेरा क्या वश है? खालाजान मुझसे माहवार खर्च अलग माँगती हैं। जायदाद जितनी है, वह पंचों से छिपी नहीं। उससे इतना मुनाफ़ा नहीं होता कि मैं माहवार खर्च दे सकूँ। इसके अलावा हिबानामे में माहवार खर्च का कोई जिक्र नहीं नहीं तो मैं भूलकर भी इस झमेले में न पड़ता। बस, मुझे यही कहना है। आइंदा पंचों को अख़्तियार है, जो फ़ैसला चाहें, करें।"

अलगू चौधरी को हमेशा कचहरी से काम पड़ता था। अतएव वह पूरा क़ानूनी आदमी था। उसने जुम्मन से जिरह शुरू की। एक-एक प्रश्न जुम्मन के हृदय पर हथौड़े की चोट की तरह पड़ता था। रामधन मिश्र इन प्रश्नों पर मुग्ध हुए जाते थे। जुम्मन चकित थे कि अलगू को हो क्या गया है! अभी यह कल मेरे साथ बैठा हुआ कैसी-कैसी बातें कर रहा था! इतनी ही देर में ऐसी काया-पलट हो गई कि मेरी जड़ खोदने पर तुला हुआ है। न-मालूम कब की कसर यह निकाल रहा है! क्या इतने दिनों की दोस्ती कुछ भी काम न आवेगी?

जुम्मन शेख़ तो इसी संकल्प-विकल्प में पड़े हुए थे कि इतने में अलगू ने फ़ैसला सुनाया—

"जुम्मन शेख़! पंचों ने इस मामले पर विचार किया। उन्हें यह नीत-संगत मालूम होता है कि खालाजान को माहवार खर्च दिया जाय। हमारा विचार है कि खाला की जायदाद से इतना मुनाफ़ा अवश्य होता है कि माहवार खर्च दिया जा सके। बस, यही हमारा फ़ैसला है। अगर जुम्मन को खर्च देना मंज़ूर न हो, तो हिबानामा रद्द समझा जाय।"

(५)

यह फ़ैसला सुनते ही जुम्मन सन्नाटे में आ गए। जो अपना मित्र हो, वह शत्रु का व्यवहार करे, और गले पर छुरी फेरे! इसे समय के हेर-फेर के सिवा और क्या कहें? जिस पर पूरा भरोसा था, उसने समय पड़ने पर धोखा दिया। ऐसे अवसरों पर झूठे-सच्चे मित्रों की परीक्षा हो जाती है! यही कलियुग की दोस्ती है! अगर लोग ऐसे कपटी, धोखेबाज़ न होते, तो देश में आपत्तियों का प्रकोप क्यों होता। यह हैज़ा, प्लेग आदि व्याधियाँ दुष्कर्मों के दंड हैं।

मगर रामधन मिश्र और अन्य पंच अलगू चौधरी की इस नीति-परायणता की प्रशंसा जी खोलकर कर रहे थे। वे कहते थे—"इसका नाम पंचायत है! दूध का दूध और पानी का पानी कर दिया। दोस्ती दोस्ती की जगह है, किंतु धर्म का पालन करना मुख्य है! ऐसे ही सत्यवादियों के बल पृथ्वी ठहरी है; नहीं तो वह कब की रसातल को चली जाती।"

इस फ़ैसले ने अलगू और जुम्मन की दोस्ती की जड़ हिला दी। अब वे साथ-साथ बातें करते नहीं दिखाई देते। इतना पुराना मित्रता-रूपी वृक्ष सत्य का एक झोंका भी न सह सका। सचमुच वह बालू की ही ज़मीन पर खड़ा था।

उनमें अब शिष्टाचार का अधिक व्यवहार होने लगा। एक दूसरे की आव-भगत ज़्यादा करने लगा। वे मिलते-जुलते थे, मगर उसी तरह, जैसे तलवार से ढाल मिलती है।

जुम्मन के चित्त में मित्र की कुटिलता आठो पहर खटका करती थी। उसे हर घड़ी यही चिंता रहती थी कि किसी तरह बदला लेने का अवसर मिले।

(६)

अच्छे कामों की सिद्धि में बड़ी देर लगती है; पर बुरे कामों की सिद्धि

में यह बात नहीं होती। जुम्मन को भी बदला लेने का अवसर जल्द ही मिल गया। पिछले साल अलगू चौधरी बटेसर से बैलों की एक बहुत अच्छी गोई मोल लाए थे। बैल पछाहीं जाति के सुंदर, बड़े-बड़े सींगों-वाले थे। महीनों तक आस-पास के गाँव के लोग उनके दर्शन करते रहे। दैवयोग से जुम्मन की पंचायत के एक ही महीने बाद इस जोड़ी का एक बैल मर गया। जुम्मन ने दोस्तों से कहा—यह दग़ाबाज़ी की सज़ा है। इंसान सब्र भले ही कर जाय, पर ख़ुदा नेक-बद सब देखता है। अलगू को संदेह हुआ कि जुम्मन ने बैल को विष दिला दिया है। चौधराइन ने भी जुम्मन पर ही इस दुर्घटना का दोषारोप किया। उसने कहा—जुम्मन ने कुछ कर-करा दिया है। चौधराइन और करीमन में इस विषय पर एक दिन ख़ूब ही वाद-विवाद हुआ। दोनो देवियों ने शब्द-बाहुल्य की नदी बहा दी। व्यंग्य, वक्रोक्ति, अन्योक्ति और उपमा आदि अलंकारों में बातें हुईं। जुम्मन ने किसी तरह शांति स्थापित की। उसने अपनी पत्नी को डाँट-डपटकर समझा दिया। वह उसे उस रणभूमि से हटा भी ले गए। उधर अलगू चौधरी ने समझाने-बुझाने का काम अपने तर्क-पूर्ण सोंटे से लिया।

अब अकेला बैल किस काम का? उसका जोड़ बहुत ढूँढ़ा गया, पर न मिला। निदान यह सलाह ठहरी कि इसे बेच डालना चाहिए। गाँव में एक समझू साहु थे, वह इक्का-गाड़ी हाँकते थे। गाँव से गुड़-घी लाद-कर मंडी ले जाते, मंडी से तेल-नमक भर लाते, और गाँव में बेचते। इस बैल पर उनका मन लहराया। उन्होंने सोचा, यह बैल हाथ लगे, तो दिन-भर में बेखटके तीन खेपें हों। आजकल तो एक ही खेप के लाले पड़े रहते हैं। बैल देखा, गाड़ी में दौड़ाया, बाल-भौंरीकी पहचान कराई, मोल-तोल किया, और उसे लाकर द्वार पर बाँध ही दिया। एक महीने में दाम चुकाने का वादा ठहरा। चौधरी को भी ग़रज़ थी ही, घाटे की परवा न की।

सम्भू साहु ने नया बैल पाया, तो लगे उसे रगेदने। वह दिन में तीन-तीन, चार-चार खेपें करने लगे। न चारे की फ़िक्र थी, न पानी की; बस, खेपों से काम था। मंडी ले गए, वहाँ कुछ सूखा भूसा सामने डाल दिया। बेचारा जानवर अभी दम भी न लेने पाया था कि फिर जोत दिया। अलगू चौधरी के घर था, तो चैन की बंसी बजती थी। बैलराम छठे-छमाहे कभी बहली में जोते-जाते थे। तब ख़ूब उछलते-कूदते और कोसों तक दौड़ते चले जाते थे। वहाँ बैलराज का रातिब था साफ़ पानी, दली हुई अरहर की दाल और भूसे के साथ खली। और, यही नहीं, कभी-कभी घी का स्वाद भी चखने को मिल जाता था। शाम-सबेरे एक आदमी खरहरे करता, पोंछता और सहलाता था! कहाँ वह सुख-चैन, कहाँ यह आठो पहर की खपन! महीने-भर ही में वह पिस-सा गया। इक्के का जुआ देखते ही उसका लहू सूख जाता था। एक-एक पग चलना दूभर था। हड्डियाँ निकल आई थीं। पर था वह पानीदार, मार की बरदाश्त न थी।

एक दिन चौथी खेप में साहुजी ने दूना बोझ लादा। दिन-भर का थका जानवर, पैर न उठते थे। उस पर साहुजी कोड़े फटकारने लगे। बस, फिर क्या था, बैल कलेजा तोड़कर चला। वह कुछ दूर दौड़ा, और चाहा कि ज़रा दम ले लूँ; पर साहुजी को जल्द घर पहुँचने की फ़िक्र थी। अतएव उन्होंने कई कोड़े बड़ी निर्दयता से फटकारे। बैल ने एक बार फिर ज़ोर लगाया। पर अब की बार शक्ति ने जवाब दे दिया। वह धरती पर गिर पड़ा, और ऐसा गिरा कि फिर न उठा। साहुजी ने बहुत पीटा, टाँग पकड़कर खींचा; नथनों में लकड़ी ठूस दी! पर कहीं मृतक भी उठ सकता है? तब साहुजी को कुछ शंका हुई। उन्होंने बैल को ग़ौर से देखा, खोलकर अलग किया; और सोचने लगे, गाड़ी कैसे घर पहुँचे। बहुत चीख़े-चिल्लाए; पर देहात का रास्ता बच्चों की आँख की तरह साँझ होते ही बंद हो जाता है। कोई नज़र न आया। आस-पास कोई गाँव भी न था। मारे क्रोध के उन्होंने मरे हुए बैल पर और

दुर्रे लगाए, और कोसने लगे—अभागे ! तुझे मरना ही था, तो घर पहुँचकर मरता। ससुरा बीच रास्ते में ही मर रहा ! अब गाड़ी कौन खींचे ? इस तरह साहुजी ख़ूब जले-भुने। कई बोरे गुड़ और कई पीपे घी उन्होंने बेचे थे, सो ढाई सौ रुपए कमर में बँधे थे। इसके सिवा गाड़ी पर कई बोरे नमक के थे। अतएव छोड़कर जा भी न सकते थे। लाचार बेचारे गाड़ी पर ही लेट गए। वहीं रतजगा करने की ठान ली। चिलम पी ; गाया ; फिर हुक्का पिया। इस तरह साहुजी आधी रात तक नींद को बहलाते रहे। अपनी जान में तो वह जागते ही रहे; पर पौ फटते ही जो नींद टूटी, और कमर पर हाथ रक्खा, तो थैली ग़ायब ! घबराकर इधर-उधर देखा, तो कई कनस्तर तेल भी नदारद ! अफ़सोस में बेचारे ने सिर पीट लिया, और पछाड़ खाने लगा। प्रातःकाल रोते-बिलखते घर पहुँचे। सहुआइन ने जब यह बुरी सुनावनी सुनी, तब पहले रोई, फिर अलगू चौधरी को गालियाँ देने लगी—"निगोड़े ने ऐसा कुलच्छन बैल दिया कि जन्म-भर की कमाई लुट गई !"

इस घटना को हुए कई महीने बीत गए। अलगू जब अपने बैल के दाम माँगते, तब साहु और सहुआइन, दोनो ही झल्लाए हुए कुत्तों की तरह चढ़ बैठते, और अंड-बंड बकने लगते—"वाह ! यहाँ तो सारे जन्म की कमाई लुट गई, सत्यानास हो गया ; इन्हें दामों की पड़ी है। मुर्दा बैल दिया था, उस पर दाम माँगने चले हैं। आँखों में धूल झोंक दी, सत्यानासी बैल गले बाँध दिया, हमें निरा पोंगा ही समझ लिया। हम भी बनिए के बच्चे हैं, ऐसे बुद्धू कहीं और होंगे ? पहले जाकर किसी गड़हे में मुँह धो आओ, तब दाम लेना ; न जी मानता हो, तो हमारा बैल खोल ले जाओ। महीना-भर के बदले दो महीना जोत लो। और क्या लोगे ?"

चौधरी के अशुभचिंतकों की कमी न थी। ऐसे अवसरों पर वे भी एकत्र हो जाते, और साहुजी के बर्राने की पुष्टि करते। इस तरह फट-

कारें सुनकर बेचारे चौधरी अपना-सा मुँह लेकर लौट आते ; परंतु डेढ़ सौ रुपयों से इस तरह हाथ धो लेना आसान न था। एक बार वह भी गरम पड़े। साहुजी बिगड़कर लाठी ढूँढ़ने घर चले गए। अब सहुआइन-जी ने मैदान लिया। प्रश्नोत्तर होते-होते हाथापाई की नौबत आ पहुँची। सहुआइन ने घर में घुसकर किवाड़े बंद कर लिए। शोर-गुल सुनकर गाँव के भलेमानस जमा हो गए। उन्होंने दोनो को समझाया। साहुजी को दिलासा देकर घर से निकाला। वे परामर्श देने लगे कि इस तरह सिर-फुटौवल से काम न चलेगा। पंचायत कर लो। जो कुछ तय हो जाय, उसे स्वीकार कर लो। साहुजी राज़ी हो गए अलगू ने भी हामी भर ली।

(७)

पंचायत की तैयारियाँ होने लगीं। दोनो पक्षों ने अपने-अपने दल बनाने शुरू किए। इसके बद तीसरे दिन उसी वृक्ष के नीचे फिर पंचायत बैठी। वही संध्या का समय था। खेतों में कौए पंचायत कर रहे थे। विवाद-ग्रस्त विषय यह था कि मटर की फलियों पर उनका कोई स्वत्व है या नहीं ; और जब तक यह प्रश्न हल न हो जाय, तब तक वे रखवाले की पुकार पर अपनी अप्रसन्नता प्रकट करना आवश्यक समझते थे। पेड़ की डालियों पर बैठी शुक-मंडली में यह प्रश्न छिड़ा हुआ था कि मनुष्यों को उन्हें बेमुरौवत कहने का क्या अधिकार है, जब उन्हें स्वयं अपने मित्रों से दग़ा करने में भी संकोच नहीं होता।

पंचायत बैठ गई, तो रामधन मिश्र ने कहा—"अब देरी क्यों है ? पंचों का चुनाव हो जाना चाहिए। बोलो चौधरी, किस-किसको पंच बदते हो ?"

अलगू ने दीन भाव से कहा—"समझू साहु ही चुन लें।"

समझू खड़े हुए और कड़ककर बोले—"मेरी ओर से जुम्मन शेख़।"

जुम्मन का नाम सुनते ही अलगू चौधरी का कलेजा धक-धक करने लगा, मानो किसी ने अचानक थप्पड़ मार दिया हो। रामधन अलगू के

मित्र थे। वह बात को ताड़ गए! पूछा—"क्यों चौधरी, तुम्हें कोई उज्र तो नहीं?"

चौधरी ने निराश होकर कहा—"नहीं, मुझे क्या उज्र होगा?"

* * *

अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान बहुधा हमारे संकुचित व्यवहारों का सुधारक होता है। जब हम राह भूलकर भटकने लगते हैं, तब यही ज्ञान हमारा विश्वसनीय पथ-प्रदर्शक बन जाता है।

पत्र-संपादक अपनी शांति-कुटी में बैठा हुआ कितनी धृष्टता और स्वतंत्रता के साथ अपनी प्रबल लेखनी से मंत्रिमंडल पर आक्रमण करता है, परंतु ऐसे अवसर भी आते हैं, जब वह स्वयं मंत्रिमंडल में सम्मिलित होता है। मंडल के भवन में पग धरते ही उसकी लेखनी कितनी मर्मज्ञ, कितनी विचारशील, कितनी न्याय-परायण हो जाती है, इसका कारण उत्तरदायित्व का ज्ञान है। नवयुवक युवावस्था में कितना उद्दंड रहता है। माता-पिता उसकी ओर से कितने चिंतित रहते हैं। वे उसे कुल-कलंक समझते हैं। परंतु थोड़े ही समय में परिवार का बोझ सिर पर पड़ते ही वही अव्यवस्थित-चित्त, उन्मत्त युवक कितना धैर्यशील, कैसा शांत-चित्त हो जाता है, यह भी उत्तरदायित्व के ज्ञान का फल है।

जुम्मन शेख़ के मन में भी सरपंच का उच्च स्थान ग्रहण करते ही अपनी ज़िम्मेदारी का भाव पैदा हुआ। उसने सोचा, मैं इस वक्त न्याय और धर्म के सर्वोच्च आसन पर बैठा हूँ। मेरे मुँह से इस समय जो कुछ निकलेगा, वह देववाणी के सदृश है—और देववाणी में मेरे मनोविकारों का कदापि समावेश न होना चाहिए, मुझे सत्य से जौ-भर भी टलना उचित नहीं।

पंचों ने दोनो से सवाल-जवाब करने शुरू किए। बहुत देर तक दोनो दल अपने-अपने पक्ष का समर्थन करते रहे। इस विषय में तो सब सहमत थे कि समझू को बैल का मूल्य देना चाहिए, परंतु दो महाशय इस

कारण रियायत करना चाहते थे कि बैल के मर जाने से समझू को हानि हुई। इसके प्रतिकूल दो सभ्य मूल्य के अतिरिक्त समझू को कुछ दंड भी देना चाहते थे, जिससे फिर किसी को पशुओं के साथ ऐसी निर्दयता करने का साहस न हो। अंत में जुम्मन ने फ़ैसला सुनाया—"अलगू चौधरी और समझू साहु ! पंचों ने तुम्हारे मामले पर अच्छी तरह विचार किया। समझू को उचित है कि बैल का पूरा दाम दे दें। जिस वक़्त उन्होंने बैल लिया, उसे कोई बीमारी न थी। अगर उसी समय दाम दे दिए जाते, तो आज समझू उसे फेर लेने का आग्रह न करते। बैल की मृत्यु केवल इस कारण हुई कि उससे बड़ा कठिन परिश्रम लिया गया, और उसके दाने-चारे का कोई अच्छा प्रबंध न किया गया।"

रामधन मिश्र बोले—"समझू ने बैल को जान-बूझकर मारा है, अतएव उनसे दंड लेना चाहिए।"

जुम्मन बोले—"यह दूसरा सवाल है। हमें इससे कोई मतलब नहीं।"

झगड़ू साहु ने कहा—"समझू के साथ कुछ रियायत होनी चाहिए।"

जुम्मन बोले—"यह अलगू चौधरी की इच्छा पर निर्भर है। वह रियायत करें, तो उनकी भलमनसी है।"

अलगू चौधरी फूले न समाए। उठ खड़े हुए, और ज़ोर से बोले—"पंच परमेश्वर की जय !"

चारो ओर से प्रतिध्वनि हुई—"पंच परमेश्वर की जय !"

प्रत्येक मनुष्य जुम्मन की नीति को सराहता था—"इसे कहते हैं न्याय ! यह मनुष्य का काम नहीं, पंच में परमेश्वर वास करते हैं। यह उन्हीं की महिमा है। पंच के सामने खोटे को कौन खरा कर सकता है !"

थोड़ी देर बाद जुम्मन अलगू के पास आए, और उनके गले लिपट-कर बोले—भैया, जब से तुमने मेरी पंचायत की, तब से मैं तुम्हारा प्राण-घातक शत्रु बन गया था। पर आज मुझे ज्ञान हुआ कि पंच के पद पर बैठकर न कोई किसी का दोस्त होता है, न दुश्मन। न्याय के सिवा उसे

कुछ नहीं सूझता। आज मुझे विश्वास हो गया कि पंच की ज़बान से ख़ुदा बोलता है।"

अलगू रोने लगे। इस पानी से दोनो के दिलों का मैल धुल गया। मित्रता की मुरझाई हुई लता फिर हरी हो गई।

शंखनाद

(१)

भानु चौधरी अपने गाँव के मुखिया थे। गाँव में उनका बड़ा मान था। दारोगाजी उन्हें टाट विना ज़मीन पर न बैठने देते। मुखिया साहब की ऐसी धाक बँधी हुई थी कि उनकी मर्ज़ी विना गाँव में एक पत्ता भी नहीं हिल सकता था। कोई घटना, चाहे वह सास-बहू का विवाद हो, चाहे मेड़ या खेत का झगड़ा, चौधरी साहब के शासनाधिकार को पूर्ण रूप से सचेत करने के लिये काफ़ी थी। वह तुरंत घटनास्थल पर जा पहुँचते, तहक़ीकात होने लगती, गवाह और सबूत के सिवा किसी अभियोग को सफलता सहित चलाने में जिन बातों की ज़रूरत होती है, उन सब पर विचार होता, और चौधरीजी के दरबार से फ़ैसला हो जाता। किसी को अदालत तक जाने की ज़रूरत न पड़ती। हाँ, इस कष्ट के लिये चौधरी साहब कुछ फ़ीस ज़रूर लेते थे। यदि किसी अवसर पर फ़ीस मिलने में असुविधा के कारण उन्हें धीरज से काम लेना पड़ता, तो गाँव में आफत मच जाती थी; क्योंकि उनके धीरज और दारोगाजी के क्रोध में कोई घनिष्ठ संबंध था। सारांश यह कि चौधरीजी से उनके दोस्त-दुश्मन, सभी चौकन्ने रहते थे।

(२)

चौधरी महाशय के तीन सुयोग्य पुत्र थे। बड़े लड़के बितान एक सुशिक्षित मनुष्य थे। डाकिए के रजिस्टर पर दस्तख़त कर लेते थे। बड़े अनुभवी, बड़े मर्मज्ञ, बड़े नीति-कुशल। मिर्ज़ई की जगह कमीज़ पहनते, कभी-कभी सिगरेट भी पीते, जिससे उनका गौरव बढ़ता

यद्यपि उनके ये दुर्व्यसन बूढ़े चौधरी को नापसंद थे, पर बेचारे विवश थे; क्योंकि अदालत और क़ानून के मामले बितान के हाथों में थे। वह क़ानून का पुतला था। क़ानून की दफ़ाएँ ज़बान पर रक्खी रहती थीं। गवाह गढ़ने में वह पूरा उस्ताद था। मँझले लड़के शान चौधरी कृषि-विभाग के अधिकारी थे, बुद्धि के मंद, लेकिन शरीर से बड़े परिश्रमी। जहाँ घास न जमती हो, वहाँ केशर जमा दें। तीसरे लड़के का नाम गुमान था। यह बड़ा रसिक, साथ ही उद्दंड भी था। मुहर्रम में ढोल इतने ज़ोरों से बजाता कि कान के पर्दे फट जाते। मछली फँसाने का बड़ा शौक़ीन था। बड़ा रँगीला जवान था। खँजड़ी बजा-बजाकर जब वह मीठे स्वर से ख्याल गाता, तो रंग जम जाता। उसे दंगल का ऐसा शौक़ था कि कोसों तक धावा मारता। पर घरवाले कुछ ऐसे शुष्क थे कि उसके इन व्यसनों से तनिक भी सहानुभूति न रखते थे। पिता और भाइयों ने तो उसे ऊसर खेत समझ रक्खा था। घुड़की-धमकी, शिक्षा और उपदेश, स्नेह और विनय, किसी का उस पर कुछ भी असर न हुआ। हाँ, भावजें अभी तक उसकी ओर से निराश न हुई थीं। अभी तक उसे कड़ुई दवाइयाँ पिलाए जाती थीं। पर आलस्य वह राजरोग है, जिसका रोगी कभी नहीं सँभलता। ऐसा कोई बिरला ही दिन जाता होगा कि बाँके गुमान को भावजों के कटु वाक्य न सुनने पड़ते हों। ये विषैले शर कभी-कभी उसके कठोर हृदय में चुभ भी जाते; किंतु यह घाव रात-भर से अधिक न रहता। भोर होते ही थकन के साथ ही यह पीड़ा भी शांत हो जाती। तड़का हुआ, उसने हाथ-मुँह धोया, बंसी उठाई, और तालाब की ओर चल खड़ा हुआ। भावजें फूलों की वर्षा किया करतीं, बूढ़े चौधरी पैंतरे बदलते, और भाई लोग तीखी निगाह से देखा करते, अपनी धुन का पूरा बाँका गुमान उन लोगों के बीच से इस तरह अकड़ता चला जाता, जैसे कोई मस्त हाथी कुत्तों के बीच से

निकल जाता है। उसे सुमार्ग पर लाने के लिये क्या-क्या उपाय नहीं किए गए। बाप समझाता—"बेटा, ऐसी राह चलो, जिसमें तुम्हें भी चार पैसे मिलें और गृहस्थी का भी निबाह हो। भाइयों के भरोसे कब तक रहोगे? मैं पका आम हूँ—आज टपक पड़ूँ या कल। फिर तुम्हारा निबाह कैसे होगा? भाई बात भी न पूछेंगे, भावजों का रंग देख ही रहे हो। तुम्हारे भी दो लड़के-बाले हैं, उनका भार कैसे सँभालोगे? खेती में जी न लगे, कहो कानिस्टबिली में भरती करा दूँ।" बाँका गुमान खड़ा-खड़ा यह सब सुनता, लेकिन पत्थर का देवता था— कभी न पसीजता। इन महाशय के अत्याचार का दंड उनकी स्त्री बेचारी को भोगना पड़ता था। कड़ी मेहनत के घर के जितने काम होते, वे उसी के सिर थोपे जाते। उपले पाथती, कुएँ से पानी लाती, आटा पीसती, और इतने पर भी जेठानियाँ सीधे मुँह बात न करतीं, वाक्य-बाणों से छेदा करतीं। एक बार जब वह पति से कई दिन रूठी रही, तो बाँके गुमान कुछ नरम हुए। बाप से जाकर बोले—"मुझे कोई दूकान खुलवा दीजिए।" चौधरी ने परमात्मा को धन्यवाद दिया। फूले न समाए। कई सौ रुपए लगाकर कपड़े की दूकान खुलवा दी। गुमान के भाग जगे। तनजेब के चुन्नटदार कुरते बनवाए, मलमल का साफ़ा धानी रंग में रँगवाया। सौदा बिके या न बिके, उसे लाभ ही होता था। दूकान खुली हुई है, दस-पाँच गाढ़े मित्र जमे हुए हैं, चरस के दम और ख़याल की तानें उड़ रही हैं—

चल झटपट री, जमुना-तट री खड़ो नटखट री।"

इस तरह तीन महीने चैन से कटे। बाँके गुमान ने ख़ूब दिल खोलकर अरमान निकाले। यहाँ तक कि सारी लागत लाभ हो गई। टाट के टुकड़े के सिवा और कुछ न बचा। बूढ़े चौधरी कुएँ में गिरने चले, भावजों ने घोर आंदोलन मचाया—"अरे राम! हमारे बच्चे और हम चीथड़ों को तरसें, गाढ़े का एक कुरता भी न नसीब

हो, और इतनी बड़ी दूकान इस निखट्टू का कफ़न बन गई। अब कौन मुँह दिखावेगा? कौन मुँह लेकर घर पैर रक्खेगा?" किंतु बाँके गुमान के तेवर ज़रा भी मैले न हुए। वही मुँह लिए वह फिर घर आया, और फिर वही पुरानी चाल चलने लगा। क़ानूनदाँ बितान उसके ये ठाट-बाट देखकर जल जाता। मैं सारे दिन पसीना बहाऊँ, मुझे नैनसुख का कुरता भी न मिले, यह अपाहिज सारे दिन चारपाई तोड़े, और यों बन-ठनकर निकले! ऐसे वस्त्र तो शायद मुझे अपने ब्याह में भी न मिले होंगे। मीठे शान के हृदय में भी कुछ ऐसे विचार उठते थे। अंत में जब यह जलन न सही गई, और अग्नि भड़की, तो एक दिन क़ानूनदाँ बितान की पत्नी गुमान के सारे कपड़े उठा लाई, और उन पर मिट्टी का तेल उँडेलकर आग लगा दी। ज्वाला उठी। सारे कपड़े देखते-देखते जलकर राख हो गए। गुमान रोते थे। दोनों भाई खड़े तमाशा देखते थे। बूढ़े चौधरी ने यह दृश्य देखा, और सिर पीट लिया। यह द्वेषाग्नि है। घर को जलाकर तब बुझेगी।

(३)

यह ज्वाला तो थोड़ी देर में शांत हो गई, परंतु हृदय की आग ज्यों-की-त्यों दहकती रही। अंत में एक दिन बूढ़े चौधरी ने घर के सब मेंबरों को एकत्र किया, और इस गूढ़ विषय पर विचार करने लगे कि बेड़ा कैसे पार हो। बितान से बोले—"बेटा, तुमने आज देखा कि बात-की-बात में सैकड़ों रुपयों पर पानी फिर गया। अब इस तरह निर्वाह होना असंभव है। तुम समझदार हो, मुकद्दमे-मामले करते हो, कोई ऐसी राह निकालो कि घर डूबने से बचे। मैं तो यह चाहता था कि जब तक चोला रहे, सबको समेटे रहूँ; मगर भगवान के मन में कुछ और ही है।"

बितान की नीति-कुशलता अपनी चतुर सहगामिनी के सामने लुप्त हो जाती थी। वह अभी इसका उत्तर सोच ही रहे थे कि

श्रीमतीजी बोल उठीं—"दद्दाजी ! अब समझाने-बुझाने से काम न चलेगा। सहते-सहते हमारा कलेजा पक गया। बेटे की जितनी पीर बाप को होगी, भाइयों को उतनी क्या, उसकी आधी भी नहीं हो सकती। मैं तो साफ़ कहती हूँ—गुमान का तुम्हारी कमाई में हक़ है, उन्हें कंचन के कौर खिलाओ, और चाँदी के हिंडोले में झुलाओ। हममें न इतना बूता है, न इतना कलेजा। हम अपनी झोपड़ी अलग बना लेंगे। हाँ, जो कुछ हमारा हो, वह हमें मिलना चाहिए। बाँट-बखरा कर दीजिए। बला से चार आदमी हँसेंगे, अब कहाँ तक दुनिया की लाज ढोवें।"

नीतिज्ञ बितान पर इस प्रबल वक्तृता का असर हुआ। वह उनके विकसित और प्रमुदित चेहरे से झलक रहा था। उनमें स्वयं इतना साहस न था कि इस प्रस्ताव को इतनी स्पष्टता से व्यक्त कर सकते। नीतिज्ञ महाशय गंभीरता से बोले—"जायदाद मुश्तरका, मन्कूला या ग़ैरमन्कूला, आपके हीन-हयात तक़सीम की जा सकती है, इसकी नज़ीरें मौजूद हैं। ज़मींदार को साकितुल-मिल्कियत करने का कोई इस्तहक़ाक नहीं।"

अब मंद-बुद्धि शान की बारी आई। पर बेचारा किसान, बैलों के पीछे आँखें बंद करके चलनेवाला, ऐसे गूढ़ विषय पर कैसे मुँह खोलता। दुबिधा में पड़ा हुआ था। तब उसकी सत्यवक्ता धर्मपत्नी ने अपनी जेठानी का अनुसरण कर यह कठिन कार्य संपन्न किया। बोली—"बड़ी बहन ने जो कुछ कहा, उसके सिवा और दूसरा उपाय नहीं। कोई तो कलेजा तोड़-तोड़कर कमाए, मगर पैसे-पैसे को तरसे, तन ढाकने को वस्त्र तक न मिले, और कोई सुख की नींद सोवे, हाथ बढ़ा-बढ़ाके खाय! ऐसी अंधेर नगरी में अब हमारा निबाह न होगा।"

शान चौधरी ने भी इस प्रस्ताव का मुक्त कंठ से अनुमोदन किया। अब बूढ़े चौधरी गुमान से बोले—"क्यों बेटा, तुम्हें भी यही मंज़ूर है? अभी कुछ नहीं बिगड़ा। यह आग अब भी बुझ सकती है। काम सबको

प्यारा होता है, चाम किसी को नहीं। बोलो, क्या कहते हो? कुछ काम-धंधा करोगे, या अभी आँखें नहीं खुलीं?"

गुमान में धैर्य की कमी न थी। बातों को इस कान सुन उस कान उड़ा देना उसका नित्यकर्म था। किंतु भाइयों की इस 'ज़न-मुरीदी' पर उसे क्रोध आ गया। बोला—"भाइयों की जो इच्छा है, वही मेरे मन से भी लगी हुई है। मैं भी इस जंजाल से अब भागना चाहता हूँ, मुझसे न मजूरी हुई, न होगी। जिसके भाग्य में चक्की पीसना बदा हो, वह पीसे। मेरे भाग्य में तो चैन करना लिखा है, मैं क्यों अपना सिर ओखली में दूँ? मैं तो किसी से काम करने को नहीं कहता? आप लोग क्यों मेरे पीछे पड़े हुए हैं! अपनी-अपनी फ़िक्र कीजिए, मुझे आध सेर आटे की कमी नहीं।"

इस तरह की सभाएँ कितनी ही बार हो चुकीं थीं; परंतु इस देश की सामाजिक और राजनीतिक सभाओं की तरह इनसे भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता था। दो-तीन दिन गुमान ने घर पर खाना नहीं खाया। जतनसिंह ठाकुर शौक़ीन आदमी थे, उन्हीं की चौपाल में पड़ा रहता। अंत में बूढ़े चौधरी गए, और मनाके लाए। अब फिर वह पुरानी गाड़ी अड़ती, मचलती, हिलती चलने लगी।

(४)

पांड़े के घर के चूहों की तरह चौधरी के घर के बच्चे भी सयाने थे। उनके लिये मिट्टी के घोड़े और लकड़ी की नावें, काग़ज़ की नावें थीं। फलों के विषय में उनका ज्ञान असीम था। गूलर और जंगली बेर के सिवा कोई ऐसा फल न था, जिसे वे बीमारियों का घर न समझते हों। लेकिन गुरदीन के खोंचे में ऐसा प्रबल आकर्षण था कि उसकी ललकार सुनते ही उनका सारा ज्ञान व्यर्थ हो जाता था। साधारण बच्चों की तरह यदि वे सोते भी हों, तो चौंक पड़ते थे। गुरदीन उस गाँव में साप्ताहिक फेरे लगाता था। उसके शुभागमन की

प्रतीक्षा और आकांक्षा में कितने ही बालकों को विना किंडरगार्टन की रंगीन गोलियों के ही संख्याएँ और दिनों के नाम याद हो गए थे। गुरदीन बूढ़ा-सा, मैला-कुचैला आदमी था, किंतु आस-पास में उसका नाम उपद्रवी लड़कों के लिये हनुमान्-मंत्र से कम न था। उसकी आवाज़ सुनते ही उसके खोंचे पर बालकों का ऐसा धावा होता कि मक्खियों की असंख्य सेना को भी रण-स्थल से भागना पड़ता था। और, जहाँ बच्चों के लिये मिठाइयाँ थीं, वहाँ गुरदीन के पास माताओं के लिये इससे भी ज़्यादा मीठी बातें थीं। मा कितना ही मना करती रहे, बार-बार पैसे न रहने का बहाना करे, पर गुरदीन चटपट मिठाइयों का दोना बच्चे के हाथ में रख ही देता, और स्नेह-पूर्ण भाव से कहता—"बहूजी, पैसों की कुछ चिंता न करो, फिर मिल रहेंगे, कहीं भागे थोड़े ही जाते हैं। नारायण ने तुम्हें बच्चे दिए हैं, तो मुझे भी उनकी न्योछावर मिल जाती है, उन्हीं की बदौलत मेरे बाल-बच्चे भी जीते हैं। अभी क्या ईश्वर इनका मौर तो दिखावे, फिर देखना कैसे ठनगन करता हूँ।"

गुरदीन का यह व्यवहार चाहे वाणिज्य-नियमों के प्रतिकूल ही क्यों न हो, चाहे 'नौ नगद सही. तेरह उधार नहीं' वाली कहावत अनुभव-सिद्ध ही क्यों न हो, किंतु मिष्टभाषी गुरदीन को कभी अपने इस व्यवहार पर पछताने या उसमें संशोधन करने की ज़रूरत नहीं हुई।

मंगल का शुभ दिन था। बच्चे बड़ी बेचैनी से अपने दरवाज़ों पर खड़े गुरदीन की राह देख रहे थे। कई उत्साही लड़के पेड़ों पर चढ़ गए, और कोई-कोई अनुराग से विवश होकर गाँव से बाहर निकल गए थे। सूर्य भगवान् अपना सुनहरा थाल लिए पूरब से पच्छिम में जा पहुँचे थे, इतने ही में गुरदीन आता हुआ दिखाई दिया। लड़कों ने दौड़कर उसका दामन पकड़ा, और आपस में खींचा-तानी होने लगी। कोई कहता था, मेरे घर चलो। कोई अपने घर का न्योता देता था। सबसे पहले भानु चौधरी का मकान पड़ा। गुरदीन ने अपना खोंचा उतार दिया। मिठाइयों

की लूट शुरू हो गई। बालकों और स्त्रियों का ठट्ट लग गया। हर्ष और विषाद, संतोष और लोभ, ईर्ष्या और जलन की नाट्यशाला सज गई। क़ानूनदाँ बितान की पत्नी अपने तीनो लड़कों को लिए हुए निकली। शान की पत्नी भी अपने दोनो लड़कों के साथ उपस्थित हुई। गुरदीन ने मीठी बातें करनी शुरू कीं। पैसे झोली में रक्खे, धेले-धेले की मिठाई दी, और धेले का आशीर्वाद। लड़के दोने लिए उछलते-कूदते घर में दाखिल हुए। अगर सारे गाँव में कोई ऐसा बालक था, जिसने गुरदीन की उदारता से लाभ न उठाया हो, तो वह बाँके गुमान का लड़का धान था।

यह कठिन था कि बालक धान अपने भाइयों-बहनों को हँस-हँस और उछल-उछलकर मिठाइयाँ खाते देखे, और सब्र कर जाय। उस पर तुर्रा यह कि वे उसे मिठाइयाँ दिखा-दिखाकर ललचाते, और चिढ़ाते थे। बेचारा धान चीखता, और अपनी माता का आँचल पकड़-पकड़कर दरवाज़े की तरफ़ खींचता था। पर वह अबला क्या करे? उसका हृदय बच्चे के लिये ऐंठ-ऐंठकर रह जाता था। उसके पास एक पैसा भी नहीं था। अपने दुर्भाग्य पर, जेठानियों की निठुरता पर, और सबसे ज़्यादा अपने पति के निखट्टूपन पर कुढ़-कुढ़कर रह जाती थी। अपना आदमी ऐसा निकम्मा न होता, तो क्यों दूसरों का मुँह देखना पड़ता, क्यों दूसरों के धक्के खाने पड़ते। उसने धान को गोद में उठा लिया, और प्यार से दिलासा देने लगी—बेटा, रोओ मत, अब की गुरदीन आवेगा, तो मैं तुम्हें बहुत-सी मिठाई ले दूँगी, मैं इससे अच्छी मिठाई बाज़ार से मँगवा दूँगी, तुम कितनी मिठाई खाओगे? यह कहते-कहते उसकी आँखें भर आई। आह! यह मनहूस मंगल आज ही फिर आवेगा, और फिर ये ही बहाने करने पड़ेंगे! हाय अपना प्यारा बच्चा धेले की मिठाई को तरसे, और घर में किसी का पत्थर-सा कलेजा न पसीजे! वह बेचारी तो इन चिंताओं में डूबी हुई थी, और धान किसी तरह चुप ही न होता था। जब कुछ बश न चला, तो मा की गोद से उतरकर ज़मीन पर लोटने

लगा, और रो-रोकर दुनिया सिर पर उठा ली। मा ने बहुत बहलाया, फुसलाया, यहाँ तक कि उसे बच्चे के इस हठ पर क्रोध भी आ गया। मानव-हृदय के रहस्य कभी समझ में नहीं आते। कहाँ तो बच्चे को प्यार से चिपटाती थी; कहाँ ऐसी झल्लाई कि उसे दो-तीन थप्पड़ ज़ोर से लगाए, और घुड़ककर बोली—"चुप रह अभागे! तेरा ही मुँह मिठाई खाने का है? अपने दिन को नहीं रोता; मिठाई खाने चला है!"

बाँका गुमान अपनी कोठरी के द्वार पर बैठा हुआ यह कौतुक बड़े ध्यान से देख रहा था। वह इस बच्चे को बहुत चाहता था। इस वक़्त के थप्पड़ उसके हृदय में तेज़ भाले के समान लगे, और चुभ गए। शायद उनका अभिप्राय भी यही था। धुनिया रुई को धुनकने के लिये ताँत पर चोट लगाता है।

जिस तरह पत्थर और पानी में आग छिपी रहती है, उसी तरह मनुष्य के हृदय में भी—चाहे वह कैसा ही क्रूर और कठोर क्यों न हो—उत्कृष्ट और कोमल भाव छिपे रहते हैं। गुमान की आँखें भर आईं, आँसू की बूँदें बहुधा हमारे हृदय की मलिनता को उज्ज्वल कर देती हैं। गुमान सचेत हो गया। उसने जाकर बच्चे को गोद में उठा लिया, और अपनी पत्नी से करुणोत्पादक स्वर में बोला—"बच्चे पर इतना क्रोध क्यों करती हो? तुम्हारा दोषी मैं हूँ, मुझे जो दंड चाहे दो। परमात्मा ने चाहा, तो कल से लोग इस घर में मेरा और मेरे बाल-बच्चों का भी आदर करेंगे। तुमने आज मुझे सदा के लिये इस तरह जगा दिया, मानो मेरे कानों में शंखनाद कर मुझे कर्म-पथ में प्रवेश करने का उपदेश दिया हो।"

पढ़ने-योग्य उत्तमोत्तम कहानियाँ

सिंहगढ़-विजय

[द्वितीयावृत्ति]

लेखक, आचार्य श्रीचतुरसेन शास्त्री। प्रस्तुत पुस्तक की कहानियाँ एक-से-एक बढ़कर हैं, जिन्हें पढ़कर आपके हृदय में वीर-रस का अनुभव होगा, और अतीत भारत का एक स्पष्ट, किंतु वेदना-विह्वल छायाचित्र आपको कदाचित् कुछ आर्द्र करेगा। इन कहानियों में ऐतिहासिक सत्य कम है, फिर भी भावना और कल्पना से तत्कालीन ओज-पूर्ण जीवन की रेखाएँ खींची गई हैं। ये रेखाएँ आपके हृदय पर प्रतिबिंबित होकर उसके रक्त में एक जीवन और उमंग की लहर पैदा कर देंगी। मूल्य सादी १॥), सजिल्द २)

अमृत

[द्वितीयावृत्ति]

लेखक, हिंदी के प्रसिद्ध कहानीकार श्रीयुत 'अरुण' बी० ए०। कहानियों के इस युग में आपने बहुतेरे लेखकों की कहानियाँ पढ़ी होंगी, परंतु उनसे सर्वथा नवीन, अनूठी, भावमय, सच्ची और सुरुचि-पूर्ण कहानियाँ इस संग्रह में पढ़िए। 'अमृत' का एक-एक शब्द इतना हृदयस्पर्शी है कि आप इसकी कोई भी कहानी एक बार पढ़ना शुरू करेंगे, तो उसे समाप्त किए विना कदापि नहीं रह सकते ! यथार्थता का ऐसा सुंदर चित्रण, इतिहास की मनोरंजक घटनाओं का विवरण, समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों की समस्याएँ और कवि, हृदय की भावनाओं का स्पष्टीकरण जैसा 'अमृत' की कहानियों में है, वैसा किसी भी कहानी-संग्रह में आपको नहीं मिलेगा। प्रचार की दृष्टि से पुस्तक का मूल्य बहुत कम रक्खा गया है। एक बार अवश्य पढ़ें। मूल्य अजिल्द १), सजिल्द १॥)

रेशमी

[द्वितीयावृत्ति]

(श्रेष्ठ गद्य-लेखक 'उग्र'जी)

लेखक, श्रीपांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'। 'उग्र'जी हिंदी के स लेखकों में हैं। आपकी भाषा में जान है। आपकी लेखनी में कि चुलबुलाहट है, कितनी लचक है, यह वही मनुष्य जान सकेगा, इस पुस्तक की बारीक़ियों और ख़ूबियों को देखेगा। इसमें १ कहानियाँ हैं—१. रेशमी, २. प्रार्थना, ३. रिसर्च, ४. विकास, ५ बेईमानचंद और ईमानसिंह, ६. वाह होली! आह होली!, ७. भ्रम, ८. असली कुत्ता, ९. अवतार, १०. सुधारक, ११. रामदाने के लड्डू, १२. चौड़ा छुरा, १३. मुक्का, १४ मोकों चूनरी की साध, १५. पिशाची, १६. टीला और गड्ढा और १७. संगीत-समाधि कहानियाँ एक-से-एक बढ़कर हैं। मूल्य सादी १), सजिल्द १॥।)

आशीर्वाद

[द्वितीयावृत्ति]

लेखक, श्रीयुत प्रतापनरायण श्रीवास्तव बी० ए०, एल्-एल्० बी०। श्रीवास्तवजी अपने लिखे 'बिदा' उपन्यास से हिंदी-संसार में बहुत अधिक प्रसिद्ध हो चुके हैं। 'आशीर्वाद' आप ही की आठ श्रे कहानियों का संग्रह है। श्रीवास्तवजी की कहानियाँ अपने ढंग के अनूठी होती हैं। इन्हें पढ़ते ही पाठक के हृदय में एक गुदगुदी उठेगी। मनोभावों की व्यंजना में लेखक कितना सफल हुआ है, य पुस्तक देखने पर ही मालूम हो सकता है। कहानियों में सभी श्रेणी पात्र हैं, और उनका चित्रण बहुत ही स्वाभाविक हुआ है। हम अनुरोध है, आप इस संग्रह को अवश्य पढ़ें। मूल्य १।), सजिल्द